'हिन्दी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क ७ ।

श्री हंसराज बच्छराज नाहटा
सरदारशहर निवासी
द्वारा
जैन विश्व भारती, लाडनू
को सप्रेम भेट

प्रकाशक—

पंडित ब्रह्मानन्द शर्मा

तिलक भुवन, माधोपुरी, लुधियाना (पंजाब)

प्रथम संस्करण ५०० } अप्रैल सन् १९३७ { विक्रम सं० १९९३ वीर सं० २४६३

गनेश्वरी प्रिन्टिंग वर्क्स, चावड़ी बाजार देहली मे मुद्रित ।

प्राक्कथन

प्रस्तुत निवन्ध मूल तो जर्मन विद्वान प्रो० लोयमानका लिखा हुआ है। इतिहासज्ञ शिरोमणि, गुजरात पुरातत्व मन्दिरके आचार्य पूज्य वन्धु श्रीयुत जिनविजयजी महाराजने लगभग दशवर्ष पेस्तर इसे एक जर्मन भाषाके ज्ञाता विद्वानसे गुरजरगिरामे अनुवादित कराकर प्रकाशित किया था। वह अनुवाद जितना सरल और सुन्दर होना चाहिये वैसा था या नहीं इस विषयमें मैं कुछ नहीं कह सकता परन्तु तद्गत भावसे प्रेरित हो हिन्दी भाषी विद्वानों के लाभार्थ मैंने इसे हिन्दीमे लिख दिया है। इससे विचारक विद्वानों की वुद्धिको खुराक अवश्य मिलेगी, क्योंकि यह एक निष्पक्ष जैनेतर गवेषक एवं विचारककी प्रौढ लेखिनीसे लिखा हुआ ऐतिहासिक निवन्ध है।

इसमें वुद्धदेव और भगवान् महावीरकी जीवन चर्या और उनके सिद्धान्तों पर तुलनात्मक दृष्टिसे प्रकाश डाला है तथा कुछ समानतायें भी दिखलाई हैं।

अन्तमें मैं कलकत्ता निवासी श्रीयुत वावू भैरूँदानजी कोठारी तथा मद्रास निवासी श्रीयुत वावू लालचन्दजी ढढ्ढा इसके सहायकोंको धन्यवाद देता हूँ।

तिलक विजय देहली

फाल्गुन पूर्णिमा

भारतका प्राचीन काल

प्रथम हम बुद्ध धर्मकी स्थापना तकके प्राचीन भारतीय धर्म विकास पर दृष्टिपात करते हैं। इस विकासको लगभग ई० स० पू० १२०० से ई० स० पू० ५०० जितनी शताब्दियाँ लगी थीं। यह युग आर्योंके विजय और विस्तारका था। हमारी इंडोजर्मन प्रजा पश्चिमसे निकलकर सिंधु नदीके किनारे पर आये बाद धीरे धीरे गंगानदीकी समतल भूमिपर आई। वहाँसे दक्षिण एवं उत्तरमें हिमालयकी ऊँची खीणोंमें विस्तृत हुई। इस प्रकार इन शताब्दियोंमें धीरे धीरे इस महाद्वीप कल्पका अधिक विभाग इंडोजर्मन सांस्थानिकोंसे भर गया। वहाँ पर बसते हुए आदि वासियोंके ये आर्य स्वामी बन बैठे। इसमें शक नहीं कि स्वामी बननेकी इनमें योग्यशक्ति थी, क्योंकि ये अपने साथही संस्कृति-उत्कर्ष ले कर आये थे। इसके बाद सबसे पहिले संस्थान स्थापनकी महत् क्रिया शुरू हुई। इंडोजर्मन प्रजाके प्रमाणमें अनेक टोले असंख्य आदिवासियोंमें संमिलित होने लगे। गौरवर्ण प्रजा श्यामवर्ण प्रजामें संमिश्रित हुई और इससे बड़े बड़े राज्यों

की स्थापना हुई। श्यामवर्ण प्रजाके जो लोग वहांसे इधर उधर न खिसके थे उन सबको गौरवर्ण प्रजाका दासत्व स्वीकारना पड़ा। इस विजयका और संस्थान स्थापनाका प्राचीन कार्य इसके पश्चात् के नवीन युगमें पुनः नवीन रूपमें प्रारम्भ हुआ। पूर्वकालकी इंडोजर्मन प्रजा धीरे धीरे पूर्वकालीन आदिवासियोंमें मिल जानेपर कुछ शक्तिसंपन्न प्रजा बनी थी। इसके बाद दूसरी दफा इन्डोजर्मन प्रजाके एक अंशने फिरसे भारतपर अपना अधिकार जमाया। जिस प्रकार आधुनिक राज्यकर्त्ता भारतवासियोंसे भिन्नही रहते हैं इसी प्रकार इस दूसरी दफाकी संस्थान स्थापनामें भी बना। गौरवर्ण प्रजाको श्यामवर्ण प्रजासे दूर रहनेकी आवश्यकता जान पड़ी। क्योंकि मिश्रण होनेसे उन्हें अवनतिका अनुभव हुआ था, तथापि यह अवनति तीन शताब्दियोंके अन्तमें स्वाभाविक ही होगई थी। प्रारम्भमें तो गौरवर्ण प्रजाने इससे बचनेका प्रयत्न किया था, परन्तु इस वर्णशंकरता और अवनतिके सामने उपस्थित किये विग्रहके रक्षण स्वरूपमें जाति भेदकी स्थापना हुई। यद्यपि इस तरह भारतीय जातीय भेद प्राचीन भारतके संस्कृति विकासका आवश्यकीय अंग था, परन्तु इस जातिभेदने उस परिणाममें इनके धर्म सिद्धान्तका रूप धारण कर लिया। वेदमेंसे पीछेके युगोंमें

विकासको प्राप्त हुये इनके धर्मस्वरूपका एक मेरु बन गया और उसी धर्मस्वरूपको आज हम ब्राह्मणधर्मके नाम से पहचानते हैं।

नैवेद्य-समर्पण-बलिदान यह इस धर्मका दूसरा मेरु बना। यह नैवेद्य कर्म यद्यपि अमुक स्वरूपमें स्वाभाविक तया पूर्वकालमें भी था, परन्तु वेदके पिछले युगमें इसनें स्पष्ट और संपूर्ण रूपधारण किया। आर्योंके प्रवास काल में ऊँचे चढ़ी हुई काव्यध्वनि धीरे धीरे लुप्त होती गई और कुछ गूढ़ कल्पनायें एवं कुछ व्यवस्थित निर्णय धर्मपर अपना प्रभाव डालते गये त्यौंत्योंही यह समर्पण बलिदान पुरोहित संप्रदायके बलसे धर्म क्रियामें प्रधान क्रियाका स्थान प्राप्त करता गया।

प्राचीन वैदिक धर्ममें जो काव्यध्वनि मुख्य थी वह अपना स्थान कायम न रख सकी। ऐसा क्यों हुआ? प्रकृतिका स्पष्ट और ध्वनित भय तथा पूजा मिटकर इस प्रकार गूँगी प्रकृति भावना किससे प्रगट हुई? अनेकेश्वर वादमें एकेश्वर वादका जन्म किसलिये हुआ?

इस विकासमें जिस प्रकार यह आगेकी दिशाका पदचिन्ह था उसी प्रकार पीछेकी दिशाका पदचिन्ह भी इसमें समाया था। विश्वसमस्तकी-विश्वैक्यकी भावना प्रगटी इसीलिए यह आगेकी दिशाका पदचिन्ह था

और प्राचीन देव स्वरूपकी भावना लुप्त होकर उसपर की आस्था नष्ट हो गई इतने अंशमें यह पीछेकी दिशा का पदचिन्ह था। विश्वसमस्तकी भावनाने जन्म धारण किया। आधार भूत जीवके स्वरूपमें आत्मन् और ब्रह्मन् के विकासकी रचना हुई और वह पूज्य भावना से जीवमें चिनी गई। अब प्राचीन कालका भव्य देव स्वरूप मात्र अर्धदेव स्वरूप-अपार्थिव व्यक्ति स्वरूपको प्राप्त हुआ और व्यवहार प्रदेशोंमें से निकलकर उसने कल्पना प्रदेशोंमें प्रवेश किया।

इससे मानव स्वभावको नवीन खाद्य देनेवाली कुछ वस्तु के लिये धर्मके नये स्वरूपकी भूमिका कैसी रची गई यह बात भली प्रकार समझी गई होगी। इसी प्रकार रोमनमें भी प्राचीन युगमें परिवर्तन हुआ था, क्योंकि वहाँपर समय व्यतीत होनेपर प्राचीन मान्यतावाली देव भावना बन्द होगई थी और वहाँ के दर्शन शास्त्रोंने विश्व समस्तमें एवं इसके सर्व प्रकारके स्वरूपमें आत्माका आरोपण किया था। समुद्रों और पर्वतों के द्वारा बाकीके देशों से जुदे पड़े हुये प्राचीन भारत वासियोंकी अपेक्षा विचित्र ही प्रकारसे पीछेके पांच सौ वर्षोंमें भूमध्य समुद्रके चारों ओरकी प्रजाओंके सम्बन्धमें आनेसे वहाँपर विकाश हुआ। जुदे पड़े हुए उष्ण प्रदेशकी अपेक्षा तीसरे खण्ड

के समशीतोष्ण प्रदेशोंमें मानव स्वभावका नवीन फल प्रमाणमें विलम्बसे और विचित्र प्रकारसे लगा। इस बात में तो कुछ शंका ही नहीं कि यह विलम्बसे लगा हुआ फल स्वादिष्ट और स्वास्थ्य वर्धक निकला। प्राचीन कालमें जुदी पड़ी हुई संस्कृतिसे भिन्न ही प्रकारसे नया स्वरूप विस्तारको प्राप्त होता हुआ आज भी अपना कार्य किये जा रहा है।

अब हमें क्षणभर ठहरकर यह जान लेना चाहिये कि इण्डोजर्मन जातिका अमुक भाग प्राचीन कालमें समशीतोष्ण प्रदेशोंमेंसे रास्ता करता हुआ उष्ण प्रदेशमें आया और उसमें भी श्याम प्रजाके बीचमें आ बसा। उस समय वहाँपर इसकी धर्म भावनाका विकास किस प्रकार हुआ? बुद्ध और महावीरके नूतन धर्मस्वरूप इसी प्रकारके मानव स्वभावका फल हैं। ऐसा मालूम होता है कि इस विशिष्ट वस्तु स्थितिमें हमारे फलके अन्दर अमुक विशिष्ट प्रकारके स्वाद, अमुक परदेशी भूमिके स्वादने प्रवेश किया। यह स्वाद अमुक विशिष्ट प्रकारका अद्भुत मत है। यह मत कमसे कम बौद्ध धर्मसे हजारों वर्ष पहिले भारतमें प्रचलित था और बुद्धके समयमें इसने लोक प्रचलित धर्ममें प्रवेश किया था। यह मत पुनर्जन्मका मत है। हम लोग तो पश्चिमकी संस्कृतिके विकासमें जन्मे हैं।

इसलिये हमें यह मत बिलकुल अलौकिक मालूम दे इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, परन्तु बुद्ध और उनके समयके लोगों को यह केवल स्वाभाविक मालूम हुआ था, एवं आज कलके हिन्दुओंको भी वह स्वाभाविक ही मालूम देता है। इस मतकी जड़ खोजनेके लिये हमे भारतके उन आदि वासिन्दोंके दरवाजे पर पहुँचना चाहिये जिन्हें इण्डोजर्मन प्रवासियोंने जीत लिया था और अपने धर्म में मिला लिया था। प्राचीन वेदकालमें तो हमारी इण्डो जर्मन प्रजामें पुनर्जन्मके मतका कोई नामोनिशान तक भी न था, तथापि प्राचीन ग्रीक मृत्यु बादके जीवनको और इसी तरहकी पारलौकिक बातोंको मानते थे। वेद कालके बाद कितनेएक वर्ष व्यतीत होने पर तो यह मत भारतमें सर्वत्र पसर गया। इस प्रकार यह आदि वासियोंका मत था, वहाँकी भूमिका आस्वाद इस फलमें अवतीर्ण हुआ था।

अब यह देखना चाहिये कि पुनर्जन्म के मत में क्या भाव रहा हुआ है? बहुत से विचारक विद्वान् कहते हैं कि इस प्रकार सिद्ध हुए धर्म के स्वरूपमें उसके दो भाव हैं। एक तो यह कि मृत्युकेबाद यही जीवन कायम नहीं रहता, परन्तु किसी दूसरे स्वरूपमें रहता है और मरनेवाले की आत्मा किसी अन्य

योनिमे मनुष्य या किसी इतर प्राणीकी योनिमें अवत रती है। इस मतका दूसरा भाव ऐसा है और वह विशेष महत्वका भी है, धार्मिक विचारक इसे अधिक महत्व देते हैं। पुनर्जन्म के मतानुसार आजका जीवन पुण्य फल या पाप फल पायगा, अर्थात् पुण्य जीव मृत्युके बाद अच्छी गति श्रेष्ठ जन्म पायेंगे और पापी जीव किसी खराब जन्मको प्राप्त करेंगे। इस प्रकार पुनर्जन्मके आधार पर विश्व व्यवस्थाकी नैतिक योजना रची जाती है। सिद्धान्त इस तरहका है कि पुण्य जीवों एवं पापी जीवोंको उनके कर्मका फल इस जन्ममें पूर्ण रीतिसे मिल नहीं सकता, इससे ऐसा ही अनुमान करना पडता है कि आज तकके जीवनका अनुसंधान करनेवाला दूसरा नवीन जीवन होना चाहिये। इस समस्त मतके परिणाममें जीवनकी वर्तमान स्थितिका कारण भी स्पष्ट हो जाता है। जीवने गत अवतारमें जो पुण्य कर्म किये हों उनपर ही उसके इस जन्मके श्रेष्ठ फलों का आधार है और उसी प्रकार इस जन्मके खराब फल उसके गत जन्मके पाप कर्मके लिये हैं। इस मतके अनुसार अनेक जन्म होते हैं। और इसके परिणाममें वर्तमान जन्मका कारण कैसा कल्पित किया जाता है, इसका हास्य जनक एक उदाहरण देता हूँ। जब कोई अंग्रेज अपने कुत्तेको गाड़ीमें बैठाता

है तब एक चतुर हिन्दू आश्चर्य पाता है और कहता है कि इस कुत्तेने इसके पूर्व जन्ममें पुण्य कर्म किया हुआ होना चाहिये' जिसके परिणाममें यह इस जन्ममें गाड़ीमे बैठने का सुख पाता है। तथा पूर्वजन्मको अनुसरने वाला स्मरण भी होता है। जिसे पूर्व जन्मके मतमें संपूर्ण श्रद्धा है उसमें दिव्य शक्ति प्रगट होती है, उसकी कल्पना और वस्तु स्थितिके बीचकी सीमा मिट जाती है एवं इससे उसे पूर्वजन्मके स्मरणकी स्फुरना हो आती है। इस प्रकारके दिव्य स्मरण द्वारा अपनी वर्तमान स्थितिको बहुत अच्छी तरह समझ सकता है और ऐसी समझ होने से वर्तमान स्थितिमें संतोष मानता है। बुद्ध और महावीरके समय यदि कोई अपने एक या अनेक पूर्वजन्मोंका स्मरण कर सकता तो वह धन्य गिना जाता था।

इस प्रकार पुनर्जन्मका मत परलोकके साथ सम्बन्ध रखनेवाला नैतिक धार्मिक मत है। प्रथम तो यह आत्माकी अमरताका प्रतिपादन करता है क्योंकि मृत्यु से कोई जीवनका अन्त नहीं होता। इससे अतिरिक्त जगतकी नैतिक व्यवस्थाका भी प्रतिपादन करता है, क्योंकि जीवका प्रारब्ध उसके किये हुवे कर्म पर आधार रखता है, ऐसा जानने परभी सचमुच ही यह मत हमे अद्भुत और विचित्र लगता है। इस मतके अनुसार लाख

चौरासी में फिरते हुए मनुष्यको पशुमें भी जन्म लेना पड़े। परन्तु हमारी भौतिक विद्याके मतानुसार तो पृथ्वी परका प्राणीजगत सबसे नीचेसे शुरू हुआ था और पशु एवं मनुष्यके बीच कुछ भी तात्विक भेद नहीं। हम इस दूरके एवं अन्तिम आधार रूप परलोकको नहीं मान सकते, और इसीसे हमने इस लोकको महत्व दिया है। तथा उच्च एवं स्वतन्त्र भावनाको वस्तु स्थितिके संकुचित कोनेमें दबादी है। हमे यह सुन्दर और भव्य लगता होगा परन्तु यह मात्र पोल और संकुचित दृष्टि है।

बुद्धके पूर्वकालीन भारतके धार्मिक इतिहासकी खोज करते हुये हम उस समयके विशिष्ट प्रकारके धर्म मतके-पूर्वजन्म मतके द्वार पर आ पहुंचे हैं। वहाँ पर नई जीवन चर्याके विशिष्ट आश्रमकी पहचान होती है। इसका विधि ऐसा है कि उत्तर अवस्थामें मनुष्यको संसारसे अपना जीवन समेट कर वनमें वास करना चाहिए। तथा इस प्रकारका विधि भी है कि वृद्धावस्थामें उसे घर व्यवहार अपने पुत्रोंको सौंप देना चाहिये और उसे स्वयं जंगलोंमें चले जाना चाहिये, गृहस्थ जीवनकी उत्तरावस्थाका जो आश्रम है उसका नाम वानप्रस्थ (वनमें जा रहना) है। इस आश्रममें रह कर मनुष्य जिस आध्यात्मिक साहि

त्यका अभ्यास करता है उसे आरण्यक वनग्रन्थ कहते हैं। उस समय सुव्यवस्थित रीतिसे स्थापन किये मठमें या विहारमें रहकर भी जिज्ञासु अभ्यास करते थे। भारतीय साधु संघमें विकास होने पर इन मठ और विहारोंकी स्थापना हुई थी और यह स्थापना बुद्धके थोड़ेही समय पहिलेसे शुरू होने लगी थी। वनमें जाकर एकान्तमें रहनेके बदले वयोवृद्ध पुरुष किसी प्रसिद्ध मठमें जा रहते और फिर वे धीरे धीरे उस मठके गुरु एवं अधिष्ठाता बनजाते थे। इस प्रकारका उल्लेख है कि बुद्ध जिस वक्त उपदेश करनेके। लिये विचरे उस समय अनेक मठाधिष्ठाता अपने शिष्य समुदाय सहित बुद्धकी शरणमें गये और उन्हें अपने साधुसंघकी रचना करनेमें सहायक बने। अब यह तो भली प्रकार मालूम होगया कि भारतमें प्राचीन मठोंमें से विकासको प्राप्त हो कर साधुसंघकी रचना किस प्रकार हुई। परन्तु इन मठोंका भी विशिष्ठ इतिहास मौजूद है। पाठक महाशयको मालूम ही होगा कि दोईचलान्तके (जिसे इंग्लिश में जर्मनि कहते हैं) अनेक प्रान्तोंमें इस प्रकारकी प्रणाली है। गृहपति जब उत्तरावस्थाको प्राप्त होता है तब वह अपना घर बार पुत्रको सौंपकर संसारसे किनारा कर जाता है। भारत वासी जिसे वानप्रस्थ-वनमें जा रहना कहते हैं सो

यह अवस्था कही जा सकती है। हमारे यहाँ तो यह मात्र सांसारिक रूढी रिवाजकी प्रथा है। परन्तु भारतमें सब वस्तुओंपर धार्मिक रंग चढता है, इसलिये उस रूढ़ीने धर्म प्रदेशमें प्रवेश किया है। इसे धार्मिक विधि दिया गया और व्यवस्थाके द्वारा पूर्ण विकास देनेका प्रयत्न किया गया है। इस तरह जो रूढी प्राचीन इन्डो जर्मन प्रजामें थी वह भारतमें जाकर धार्मिक विकासको प्राप्त हुई। उसमेंसे वानप्रस्थ आश्रम विकस्वर हुआ और उसीमेंसे मठ नियत हुये।

सांसारिक धार्मिकताके साथ ही साथ जो प्राचीन विकास हुआ उसके परिणामसे भारतमें पूर्वोक्त प्रकार से साधु जीवनकी योजना हुई और उसे अत्यन्त महत्व दिया गया। इस विकाससे बुद्ध और महावीरके धर्मके साथ खिस्ती धर्मकी भावनामें महत्वका विरोधभाव विकसित हुआ। पूर्वका भारतीय धर्म संसारमेंसे पलायन कर जाने' वृद्धावस्था, त्याग, संक्षेपमें संन्यस्त सम्बन्धी है, और पश्चिमका धर्म संसारकार्य युवावस्था, पुरुषार्थ' आशा तथा संक्षिप्तमें मन्दिर सम्बन्धी है। बुद्ध और महावीरके धर्ममें मठ अथवा हमारे मठसे मिलता हुवा कुछ मध्यबिन्दु है। खिस्ती धर्मके मध्यबिन्दुमें मन्दिर है।

अभी तककी चर्चासे हम थोड़ा बहुत यह

जान सकते हैं कि महावीर और बुद्धका धर्म कौनसी भूमिकामें से स्फुरित हुआ था। इनके पिछले अन्तर पटमें प्राकृतिक शक्तियों की इन्डोजर्मन वैदिक भावनाकी पूजा है। अर्थात् काव्यमय अनेकेश्वर वाद है। इसमेंसे भीत्तरकी ओर एकता साधन करनेके उपाय किये जाते हैं। और अद्वैत वादकी दिशाओंकी खोज की जाती है। बाहरकी तरफ इससे विपरीत बलि पूजाका जोर बढ़ता है और साथही समाजमें वर्णविभाग की योजना भी की जाती है। धीरे धीरे विकास होते हुये पुनर्जन्मका मत प्रगट होता है और प्राचीन अभ्यास के बलसे आश्रम, संस्थायें' तथा साधु जीवन विकास प्राप्त करते हैं। इसके साथही समस्त देशोंमें चंचलता प्रवेश करती है। नये आदर्शों की कल्पना की जाती है। सब दिशाओंमें दृष्टि पड़ती है और परिणाममें नये आद र्शों की योजना की जाती है।

क्राइस्टके पूर्व छठे सैकेमें नये नये मतोंका जन्म होता है। पुरोहित संस्थासे और उसके बलिधर्मसे उक्ताये हुये अनेक विचारक मनुष्य उनके सामने विरोधी पुकार करते हैं और इस प्रकारका धर्म सिखानेका प्रयत्न करते हैं कि जिससे एक दूसरेके विरुद्ध चलते हुए अनेक मतोंका एक संप्रदायमें समावेश किया जाय, तथा जिस

से धार्मिक क्रियाओंको किसी जुदीही नयी भूमिकापर स्थापन किया जा सके। इस प्रकारके अनेक विचारकों के (महावीरका जमाई जमाली, गोशालक, तिस्सगुप्त, कालाभ, उद्रक आदि—अनुवादक) नाम हम जानतेही हैं। परन्तु इनमेंसे दो ही व्यक्तियोंका नाम प्राचीन कालके इस अन्धकारमें पूर्ण रीतिसे प्रकाशित होता है। मात्र ये दो व्यक्तियां ही इस प्रकारके धर्म संघकी स्थापना कर सकीं कि जो आज पर्यन्त अखण्ड प्रवाहसे चला आता है। जिसमें इनके विचार और आचार प्रबल रूपसे कार्य कर रहे हैं और जिसमें कई शताब्दियोंके व्यतीत हाते हुये भी गद्य एवं पद्य रूपमें हजारों साहित्य ग्रथोंकी रचना होती रही है। ये दो पुरुष अपने स्थापन किये और आज तक जीवित रहे हुये संघ से और संघके द्वारा निर्माण हुये साहित्यसे हम पर स्पष्ट रूपसे प्रकाश डाल रहे हैं, और दूर दूरके अन्धकार में सूर्यके समान प्रकाश कर रहे हैं। इन्हींके समय धार्मिक आन्दोलन करनेवाले दूसरे विचारकोंको आज हम परोक्ष रूपमें ही जानते हैं। अर्थात् वे मात्र ग्रह रूप से ही प्रकाश करते हैं,

नाम निर्देश

ये दो मुख्य आत्मायें कौन थीं? ये दो धर्म संस्थापक कौन थे? ये दोनों पूज्य नामोंसे पहचाने जाते हैं। पहले महापुरुषका जन्म ई० स० पू० ५७० के अरसे में हुआ था और ये महावीर याने बड़े विजेताके नामसे पहचाने जाते हैं। दूसरे महान् पुरुषका जन्म ई० स० पू० ५५०के अरसेमें हुआ था। और ये बुद्ध-ज्ञानीके नामसे पहचाने जाते हैं। इसी प्रकारके इनके दूसरे नाम भी हैं। इन दोनोंको अर्हन्त (पूज्य भगवन्त (प्रभु) अथवा जिन (जीतने वाले) भी कहते हैं। इसके सिवो महावीरकी तीर्थङ्कर और बुद्धकी तथागत संज्ञा भी बहुतही लोक प्रिय और प्रचलित है। तीर्थङ्करका शब्दार्थ तारनहार— तारनेवाला, अर्थात् मुक्तिमार्गपर चढाने वाला होता है। और भावार्थ मार्ग दर्शक होना है तथा गतका शब्दार्थ ऐसे गया याने सच्चे मार्गपरचढा ऐसा होता है और इससे इसका भावार्थ आदर्श रूप अथवा आदर्शभूत होता है। इन सब नामोंको विशेषतः इन दोनों महान् पुरुषोंके पूजक और शिष्य हमेशा उपयोगमें लेते हैं।

जिस जातिमें इनका जन्म हुआ था किसी समय ये उस जातिके नामसे भी पहचाने जाते हैं और उन नामोंमें इनके उत्तम कुलमें जन्म पानेकी भावना भरी है। महावीर ज्ञात कुलमें और बुद्ध शाक्य कुलमें जन्मे थे, इस कारण महावीरको ज्ञातपुत्र और बुद्धको शाक्य पुत्र भी कहते हैं। इसके बाद इस दूसरी संज्ञा शाक्य पुत्रपरसे बुद्धको शाक्य मुनि (शाक्य विचारक) अर्थात् शाक्यकुल में जन्म पानेवाला ज्ञानी पुरुष ऐसाभी कहते हैं। बुद्ध संज्ञाके उपरान्त यह संज्ञा बहुत प्रचलित हो गई है और हमारे धर्म संस्थापकोंमें यह व्यक्ति इस नामसे विशेष प्रख्यात है। इन व्यक्तियोंको इनके घरमें इनके माता पिता, बहन, भाई, सगे सम्बन्धी मित्रजन किस नामसे बुलाते थे यह जानना भी आवश्यक है। महावीरका नाम वर्धमान (बढ़ता हुआ) था और बुद्धका नाम सिद्धार्थ (भाग्यशाली) था। जब हम संज्ञाओंके विषयमें विचार करने बैठे हैं तो फिर हमे यहभी निश्चित करना चाहिये कि महावीर और बुद्धके अनुयाई किस नामसे पहचाने जाते थे और पहचाने जाते हैं। लाटिन ख्रिस्तुस ऊपरसे ख्रिस्त [illegible] फ्रेन्च (chretien) और जर्मन ख्रिस्त तथा [illegible] परसे जिस प्रकार यूरोपमें हमने मोहम्मद [illegible] कायम किये हैं उसी प्रकार बुद्धपरसे उनके

अनुयायियोंके लिये बुद्धिस्ट शब्दकी योजना की गई है। खुद हिन्दुस्तान में ब्राह्मण धर्म बुद्धके अनुयायियों को बौद्ध कहता है और महावीरके अनुयायियोंके उपनाम जिन ऊपरसे जैन कहते हैं, जिन्हें हम जिनिस्ट कह सकते हैं। महावीरके अनुयायीके लिये हिन्दुस्थानमें उपयुक्त किया जाता जैन एवं यूरोपमें बने हुये बुद्धिस्ट शब्दके अनुसार जिनिस्ट इन दोनों पारिभाषिक शब्दोंको हम वर्तमानकाल में उपयुक्त करते हैं। और इसी प्रकार महावीरके धर्म सम्बन्धमें जब बोलते हैं तब भी हम जैनधर्म एवं (जर्मन) जिनिस्मुस इन दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हैं।

मैंने जो यहाँपर इतने सारे नाम गिनाये हैं इन्हें पढ़कर पाठक महाशय कहेंगे कि नाम तो राख और धूम्र हैं। परन्तु इस बातकी परीक्षा करनेसे स्पष्ट मालूम देगा कि अमुक प्रकारके नामोंमें कुछ न कुछ महत्व अवश्य होता है। पूज्य और मार्गदर्शक जैसे उपनामोंमें भी भाव तो है ही, परन्तु यदि यथार्थ रीतिसे समझा जाय तो बुद्ध और महावीर इन दो मुख्य नामोंमें इनसे भी अधिक भाव समाया हुआ है।

बुद्ध अर्थात् जिसने ज्ञान प्राप्त किया है उसे हम ज्ञानी कहते हैं। महावीर अर्थात् सबसे बड़ा विजेता, यह

नाम हमें एक दूसरीही दिशाकी ओर खींचता है। साधुओंमें तो वीर वही है कि जो सबसे अधिक कष्ट सहन कर सके, जो तपश्चर्यामें बहुत आगे बढ़ सके। इसलिये महावीरका अर्थ लगभग महान् तपस्वी भी हो सकना है। प्राचीन भारतमें तपस्के सम्बन्धमें विचार करते समय वीरस्थान के सम्बन्धमेंभी अवश्य विचार किया जाता था, और इसका अर्थ तपश्चर्या होता था। अर्थात् वनमें निश्चल बैठना और अपने आप वीररूपमें सिद्ध होना तथा हवा पानीके एवं अन्य कष्टोंकी कुछ भी परवाह न करना। स्वाभाविक रीत्या ही इसका हेतु यह न था कि अपना वीरत्व जग जाहिर करना, परन्तु कष्टसे अपने शरीरको दमन करना था। इसी कारण बुद्ध ये ज्ञानी और महावीर ये महातपस्वी थे और इससे इन दोनों महापुरुषोंके लक्षणमें साधारणतः सचमुच ही बडा भारी अन्तर झलक आता है। महावीर अन्त तक सच्चा तपस्वी है, और तपस् ही उनके धर्मका मूल एवं मुख्य पाया है। बुद्धने भी अपने साधु जीवन सम्बन्धी प्रारम्भके वर्षोंमें इस दिशामें प्रयत्न किया था। इन्होंने ६ वर्ष पर्यन्त तपश्चर्या का आचरण किया था। परन्तु इन्हें यह ज्ञान हुआ कि जिस प्रकार संसार भोग एक दिशाकी परिसीमा है उसी प्रकार तपस् भी दूसरी

दिशाकी परिसीमा है। इन दोनों परिसीमाओंको छोड़ दिया जाय तो वीचके मार्गमें सुन्दर सत्य मिल जाय। इस ज्ञानसे ही सिद्ध होता है कि इन दो पुरुषोंमें बुद्ध अधिक ज्ञानवान थे और इससे यथार्थ रीत्या ही इन्हें ज्ञानी यह संज्ञा प्राप्त हुई है, तथा उतने ही यथार्थ प्रकार से इनके समकालीन पुरुष को महातपस्वी यह संज्ञा प्राप्त हुई है।

तपस् और सम्यक्

ऐतिहासिक मार्गमें गमन करते हुये हमें प्रथम त्तपस्के सम्बन्धमें विचार करना चाहिये। महावीरने जीवन पर्यन्त इस तपस्का आचरण किया था और बुद्ध ने अपने साधु जीवनके थोड़ेसे पहले वर्षों में उसको आचरण किया था। तपस् शब्द में भारतवासियोंकी अति विशाल भावना है। वे सब प्रकारके उपवास और आत्म शासनका एवं काय क्लेशका समावेश इस तपस्में कर लेते हैं। इन्द्रियोंका दमन करना, स्वाभाविक लालसाओं एवं आत्म चापल्य पर विजय प्राप्त करना, आत्माको सहनशील बनाना, देहके तथा संसार सम्बन्धी विलासों की वासनाओं और प्रलोभनोंकी वृत्तियोंसे मुक्त होना यह इस तपस्का आशय है। भीतरका पुरुष (आत्मा) अपने उच्च प्रयोगोंसे पार उतरनेके लिये, इन्द्रियों और सांसारिक जीवनके कारण उत्पन्न हुये बन्धनोंसे बल पूर्वक अपना रक्षण करना इच्छता है। भारतवर्ष में तपस्के सम्बन्धवाले इन ऊंचे प्रयासोंने अनेक प्रकारके स्वरूप धारण किये हुवे हैं। तप अमुक प्रकारका पुण्य

कर्म है, और यह अस्वाभाविक बल प्रदान करता है एवं परलोकमें शुभफल देता है। यदि मनुष्य स्वयं अपनी इच्छासे संयम और कष्ट उठाले तो उससे वह इस जन्म में पवित्रताकी छाया प्राप्त करता है और मृत्युके बाद उच्च प्रकारका सुख पाता है। यह भावना यद्यपि आज हमें नयी जैसी मालूम होगी यह बात सही है, तथापि यह इंडोजर्मन प्रजाकी प्राचीन कालमें बँधी हुई अति प्राचीन धर्म भावनाके आधार पर घड़ी हुई है और इसकी रूप रेखाके चिन्ह प्राचीन जर्मन आचारोंमें उतरे हुए हैं। इण्डोजर्मन लोग मानते थे कि आध्यात्मिक पुण्य स्वयं उठाये हुये कष्ट द्वारा या अन्य किसी ऐसे ही मार्ग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और खासकर दुःख पड़ने पर पापमुक्ति—पारलौकिक सहायताके आधारसे याने देवताओंकी सहायतासे प्राप्त की जा सकती है। पुण्यके लिये या पाप मुक्तिके लिये लोग देवोंकी ओर नजर करते और उनकी तरफसे संकटसे रक्षण पानेकी आशा रखते थे। संसारकी नैतिक व्यवस्थाके लिये देवोंकी प्रार्थना करते, क्योंकि वे उस व्यवस्था के रक्षक माने जाते थे। देवोंके प्रति प्रार्थनाको लोग 'देवों पर आग्रह' इस नामसे पहचानते और प्रतिज्ञाओं द्वारा उस आग्रहको सफल करते थे। प्रतिज्ञायें इस प्रकार

की जाती थीं ;मैं अमुक २ पुण्य प्राप्त करनेकी प्रतिज्ञा लेता हूँ या पाप मुक्त होनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ और उसमें देवोंकी सहायताकी आशा रखता हूँ।

'देवोंपर आग्रह' इस प्रकार के भावना पूर्ण शब्द अभी तक भी ग्रीक भाषा में विद्यमान हैं। O, Myumitou, Sveoys देवोंके समक्ष प्रतिज्ञा लेता हूँ? (देवों को शपथ प्रतिज्ञा देता हूँ?) 'देवों पर आग्रह' के लिये इसी भावमें संस्कृत भाषामें तय् अमीतिअम्" ग्रीकमें O M ये शब्द है। प्रतिज्ञाको संस्कृतमें सत्यकार (ऐसा करूँगा) कहते हैं।

यहाँ पर इस स्पष्ट की हुई श्रद्धा पर ही माने हुये देव निर्णयका आधार था, और यह लोग मानते थे कि पाप मुक्तात्मा संकटसे मुक्त होती है। तथा जिसने इसे संकटमें डाला हो वह मृत्युको प्राप्त होता है। ऊपर से सहायता मिलती है और इस लिये ही पुण्य, त्याग, पाप, मुक्ति, पवित्रता आदि प्राप्त हो सकते हैं। इस श्रद्धा ने भारतमें इस प्रकारका स्वरूप पकड़ा कि अमुक २ प्रकारके तपसे ही ऊँचे कर्म बँध सकते हैं। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि महावीर और बुद्धने प्रत्यक्ष तौर पर इस भावना परसे अपनी भावना निर्माण की। बल्कि जो मनुष्य तपसे प्राप्त होनेवाली इह लोक

सम्बन्धी कीर्तिके लिये या परलोक सम्बन्धी सुखके लिये तप करते थे उनका ये तिरस्कार करते थे। त्याग और कायक्लेश से इस लोकमें या परलोकमें सुख प्राप्त करना, अथवा इस लोकमें कीर्ति प्राप्त करना उन्हों का यह आशय न था, परन्तु मुक्ति प्राप्त करना ही उनका मुख्यआशय था। अब हम भारतके उस समयके धार्मिक दर्शनकी एक नयी मुक्ति या मोक्षकी भावनाके समीप आ पहुँचे हैं जिसके सम्बन्धमें महावीर और बुद्धने भी विचार किया था। इस भावनाके विषयमें स्पष्ट रीत्या विचार करनेसे पहले हमें यह जान लेना चाहिये कि महावीर और बुद्धने तपके सम्बन्धमें कैसी कैसी भावनायें बाँधी थीं। ये दोनों महापुरुष उत्तम कुलमें जन्मे थे, दोनों अपने ही कुटुम्बमें पालित पोषित होकर बड़े हुये थे और दोनों लगभग तीस वर्ष के संसार व्यवहार से बिल्कुल उक्ता गये थे। इस तीस वर्षके सांसारिक व्यवहारसे ये इतने उक्ता गये थे कि अन्तमें उसका परित्याग कर साधु बन गये और दोनों ने अतिआतुरता से एवं अपने परिपूर्ण पुरुषार्थसे तपाचरण किया था। परन्तु इनके लिये तप कसोटी पत्थर था। महावीर इसमें पार उतरा और इसके अनुसार उसने अपने धर्मकी योजना की, तपने ही उनकी मार्ग दर्शक भावना का

स्वरूप धारण कर लिया। इससे विपरीत बुद्ध अनेक वर्षों की तपश्चर्या के बाद इसके पार निकल गये और उन्हें इससे भी उच्च प्रकार की मार्गदर्शक भावनाकी प्राप्ति हो गई। यह भावना ऐसी थी कि जिसकी भारतमें किसी को खबर न थी, बुद्धने इसी भावनासे प्रेरित होकर इसी के अनुसार अपने धर्मकी योजना की थी। उनका सब आधार मार्गदर्शक पर अवलम्बित था। क्योंकि नैतिक और धार्मिक सिद्धान्तोंमें तो महावीर और बुद्ध लगभग समान ही थे। मुख्य विषयोंमें उनका एक ही मत था, इतना ही नहीं बल्कि इनके समकालीन अन्य विचारकों के नैतिक और धार्मिक अभिप्रायों के साथ भी ये दोनों एक मत थे। उस समय के मुख्य ब्राह्मण धर्मके आचार्य भी अपने नैतिक और धार्मिक मतों में इनसे बहुत भिन्न न थे। वे मात्र जाति भेदकी संकुचितता और यज्ञमें पशुओंको मारकर होम करनेके धार्मिक बन्धनोंमें बँध चुके थे। यह धर्म उन साधुओं को (महावीर और बुद्धको) बिल्कुल पाप कर्म मालूम हुआ, क्योंकि ये महान् पुरुष किसी मनुष्य या पशुकी हिंसाको सबसे भ्रष्ट प्रकारका पाप कर्म मानते थे।

इस प्रकार इनका समस्त आधार मार्ग दर्शक भावना पर था। अन्य सब भावनायें इस महत्वकी भाव

नाके नीचे किस प्रकार आ सकती हैं यदि यह देखना हो तो महावीरकी ओर दृष्टिपात करना चाहिये। तू हिंसा न करना, आदि पाँच आज्ञाओंमें भी जो नीति धर्म नहीं समा सकता वह समस्त नीतिधर्म उन्होंने तपके केन्द्रविन्दुमें समाता हुआ दिखलाया है, आहार में, वस्त्रमें, एवं अन्य विषयोंमें जो जो आज्ञाये संयम पालनेकी ब्राह्मण धर्मके मतसे तपकी विशाल भावना में आजाती हैं उन सबकी महावीरने बाह्य तपमें गणना की है और इसके उपरान्त ऐसी भावनायें, कितनी एक कठिन बातें और भी मिलाई हैं। तमाम प्रकारके आचारों और व्रतों एवं वीरस्थान जिसके विषयमें प्रथम कथन किया गया है इन सबके द्वारा महावीर शरीरको कसने की आज्ञा करते हैं। यह बात तो वे बिल्कुल नयी ही लाये हैं। महावीरने इस न्यूनाधिक बाह्यतपके स्वरूपों के समानही आन्तर तपके स्वरूपोंकी भी योजना की है और इसमें विनय, सेवा आदि सर्व साधारण आचारों एवं ध्यान वगैरह साधुओं सम्बन्धी विशेष आचारों का समावेश किया है। इसके उपरान्त जिसे ये लोग आत्म संयम कहते हैं और जिसे हम सर्वथा आन्तर तपमें रखने को कहें उसे महावीरने बाह्यतपमें दाखल किया है। एक प्रकारसे तो हमें यह मालूम देगा कि तपमें बाह्य

और आन्तर स्वरूपके बीचमें जो भेद किया हुआ है वह कोई सर्वथा सच्चा भेद नहीं है, तथापि इस विषयकी टीका या चर्चा करनेकी अपेक्षा हम तपका संपूर्ण वर्गीकरण करेंगे और अन्तिम निर्णय पाठकोंके ही हाथ में सौंप देंगे। जैन ग्रन्थोंमें यह वर्गीकरण दो जगह दिया हुआ है। पहले उपाङ्ग में (Abhandlungen fir die pude does margineandes VIII 2, 1883,P 38-44) और पाँचवें अंगमें बाह्य एवं आन्तर तपके प्रतेकके६ ६ प्रकार हैं। बाह्य तपके छः प्रकार इस तरह हैं—

१ अनशन अमुक समय तक न खाना। २ अनोदरी कम खाना याने आहार वस्त्र वगैरहमें आत्म संयम तथा बाह्य अन्य विषयोंमें आत्म शासन प्राप्त करना। ३ भिक्षाचर्या—भिक्षाके लिये जाना, याने भिक्षा द्वारा ही उदर निर्वाह करना। ४ रसपरित्याग— स्वादपर संयम प्राप्त करना। ५ कायक्लेश—शरीरको कसना याने आसन लगाकर निश्चल भावसे बैठना, हलन-चलन एवं थूकने आदिकी समस्त शारीरिक क्रियापर संयम प्राप्त करना और उसके द्वारा शरीरको कसना।

६ प्रतिसंलीनता अपने भीतर ध्यान लगाना, याने समस्त विचारों एवं वृत्तियोंको दबा कर एकान्त स्थानमें अमुक समय तक बैठना। जिस प्रकार कछुवा अपने अंग को सिकोड़ लेता है उसी प्रकार मनुष्यको आत्मीय विचारों

में लीन होनेके लिये बाह्य संसारमें से अपने मनको समेट लेना चाहिये।

आन्तर तपके ६ भेद इस प्रकार हैं। १ प्रायश्चित्त श्रेष्ठ बननेके विचार करना या अशुभकृत्यके लिये) पश्चात्ताप करना। २ विनय—दूसरोंका आदर करना। ३ वैयावृत्य— दूसरोंकी सेवा सुश्रुषा करनेके लिये तैयार रहना। ४ स्वाध्याय–विद्याध्ययन करना। ५ ध्यान— आत्म चिन्तन करना। ६ उत्सर्ग—संसार से आत्माको समेट लेना, याने जन्मजरा मृत्युकी परम्पराके कारणोंसे मुक्त होना।

यद्यपि इस प्रकारकी भावना सम्बन्धी समस्त मानसिक प्रयत्न कुछ असार और कष्ट जनक मालूम देंगे और इससे पाठकोंके मन पर कदाचित् इस सारे वर्गीकरण से संतोष जनक असर न भी हो तथापि महावीर और परोक्ष रीतिसे बुद्धके व्यक्तित्वके विषयमें खास तौरपर ध्यान खिंचे विना न रहेगा। महावीरको शारीरिक और सांसारिक प्रलोभनोंसे मुक्त होना है और इससे अपने समस्त नैतिक एवं धार्मिक प्रयत्नोंको वे तपकी भावनाके नीचे ला रखते हैं बल्कि जो विनय और सदाचारका सर्व साधारण मानव धर्म है उसेभी वे आत्मसंयम, आत्म शासन और आत्म विजयमें समाविष्ट करते हैं। यदि संक्षेपमें कहें तो वे सब कुछ आत्मामें ही समा देते हैं।

बुद्धने जब धीरे धीरे यह देखा कि तप यह एक मिथ्या परिसीमा है तब उसे छोड़ दिया और महावीरके समान उन्होंने सब बातोंका तपमें समावेश न किया। इस विषयमें जब उनका सिद्धान्त ही बदल गया था तब वे महावीरके समान तपको उतना महत्व न दें यह उनके लिये स्वाभाविक बात थी। प्रायश्चित्त की आवश्यकता उन्होंने भी मानी है और आत्म संयम एवं आत्म शासनको सन्मान दिया है। परन्तु शरीरको कसनेवाली, सर्व प्रकारके संयमवाली और कष्ट देनेवाली जिसे साधारण रीतिसे लोग तप समझते थे और जिन्हें महावीरने बाह्य तपमें दाखल किया है मात्र उन क्रियाओं का याने वैसे आत्म विजयका उन्होंने निरादर किया था। किन्तु उनके प्रयत्नों द्वारा उन्हें इस प्रकारकी एक नई महाभावना-भूमिकाकी प्राप्ति हुई कि जो पूर्वोक्त बातोंसे अधिक श्रेष्ठ और विशेष दया पूर्ण थी और यही सच्चे महत्वकी बात है। इसके लिये जो उन्होंने मार्ग दर्शक शब्दका उपयोग किया है वह तपस् नहीं किन्तु सम्यक् शब्द है और इसका अर्थ यथार्थ या शुभ होता है। समस्त विचार, समस्त उच्चार, समस्त आचार यथार्थ अथवा शुभ होने चाहिये।

भारतमें समस्त विचारोंकी व्यवस्था पूर्वक संक:

लना करने वाला संप्रदाय है' उसी प्रकार बुद्धने भी अपने विचारोंके वर्गीकरणकी व्यवस्था की है। उन्होंने आठ प्रकारके सम्यक् वर्ग किये हैं। परन्तु ये महावीर के बारह प्रकारके तपस् वर्गसे भिन्न प्रकारके हैं। सम्यक् के इस वर्गीकरण या इससे जो भाव समझा जाता है उसे आर्य अष्टांगिक मार्ग कहते है' सो इस प्रकार है-

१ सम्यक् दृष्टि—यथार्थ देखना या यथार्थ आस्था।
२ सम्यक् संकल्प—यथार्थ इच्छा या यथार्थ निश्चय।
३ सम्यक् वाक्—यथार्थ शब्द या यथार्थ वचन।
४ सम्यक् कर्म—यथार्थ कर्म या यथार्थ प्रवृत्ति।
५ सम्यक् आजीव, यथार्थ जीवन चर्या या यथार्थ जीवन।
६ सम्यक् प्रयत्न—यथार्थ प्रयत्न या यथार्थ पुरुषार्थ।
७ सम्यक् स्मृति—यथार्थ स्मरण या यथार्थ ज्ञान।
८ सम्यक् समाधि—यथार्थ ध्यान अथवा यथार्थ आत्म निमज्जन।

उपरोक्त स्थितिका एक यह परिणाम हुआ कि महा-वीर एवं उनके शिष्योंने तपको जो महत्व दिया था वह बुद्ध और उनके शिष्योंने कम कर दिया। इससे जैनमुनि बौद्धसाधु जीवनको विलास मय और सांसारिक कहने लगे। यह अभिप्राय और अनुभव भारतमें निश्चयरूपसे फैल गया और इसके परिणाममें बुद्ध धर्मको अपनी जन्म

भूमिमेंसे अदृश्य होना पड़ा। परन्तु दूसरी ओर इसी जन्म भूमिने जैन धर्मको आज तक टिका रक्खा और पालन पोषण किया है। इसके पीछेके समयमें किसी जैन लेखक ने बौद्ध भिक्षुओंको दिन चर्याके सम्बन्धमें निम्न उद्गार निकाले हैं।

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेयम्,
भक्तं मध्ये पानकं चापरान्हे।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे,
मोक्षश्चान्ते शाक्य पुत्रेण दृष्टः॥

भावार्थ—कोमल शय्यामें सोना' सुबह उठकर कुछ पीना, दुपहरको भात और पिछले पहर कुछ पान करना' आधीरातके समय द्राक्ष और शक्कर खाना और इस प्रकार अन्तमें शाक्य पुत्रने मोक्ष देखा है।
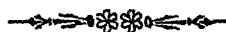
प्रत्येक बुद्ध और बुद्ध

पूर्वोक्त प्रकारसे भगवान महावीरने समस्त पुरुषार्थ आत्मा परही बतलाया था। महावीर मात्र साधुही न थे बल्कि वे तपस्वीभी पूरे थे। परन्तु बुद्धको सच्चा बोध प्राप्त हुए बाद वे तपस्वी न रहे, किन्तु मात्र साधुही रहे और उन्होंने अपना समस्त पुरुषार्थ जीवन धर्म पर ही कर बतलाया। इससे एकके उद्देशने आत्म धर्म और दूसरेके उद्देशने लोकधर्मका स्वरूप धारण किया। बुद्धने अपने उद्देशको आत्मधर्ममेंसे विस्तृत कर लोक धर्ममें प्रवेश कराया और इसी कारण यह अधिक अख्यात है' अधिक पूजा जाता है और हमारी भावनासे इन दोनों महापुरुषोंमें बुद्धही काईस्टकी दिशामें प्रयाण करते हैं

हमे जो बड़ा भेद मालूम होता है वह अन्य सब विषयोंमे झलक आता है। इन सब विषयोंम अब हम स्पष्टता करते जायेंगे। बुद्धकी दृष्टि जब समाजकी ओर झुकती है तब उन्हें स्पष्ट तौरपर यह मालूम होने लगा कि मनुष्य केवल अपने एकलेके लिए ही नहीं परन्तु समस्त समाजके लिये है। उसका आत्मदान दूसरोंके हितके

लिये है' उसका आत्मभोग सबके हितार्थ है । उनका यह धर्म महावीरके धर्मसे सर्वथा और स्पष्ट तौरपर यहाँ ही भिन्नत्व धारण करता है । महावीरके धर्ममें सबसे उच्च भावना आत्मत्यागकी है । तथा दूसरी दो संज्ञाओंमें प्रत्येक बुद्ध और बुद्ध इन दो शब्दोंमें स्पष्ट तौरपर बड़ा भेद मालूम होता है । प्रत्येक बुद्धका अर्थ अपने लिये ज्ञानी ऐसा होता है और बुद्धका अर्थ सबके लिये ज्ञानी ऐसा होता है । एक ज्ञानी मठमें ही रहता है और मात्र अपनी ही आत्मशुद्धिकी दरकारसे संतोष मानता है । दूसरा ज्ञानी लोक समाजमें विचरता है और उपदेश एवं दृष्टान्तों द्वारा दूसरोंकी आत्मशुद्धिका प्रयत्न करता है । महावीर को मठवासी प्रत्येक बुद्धकी संज्ञा तो देही नहीं सकते' क्योंकि वे भी लोक समाजमे तो विचरते ही थे । बुध्दके समान उनके भी अनेक शिष्य थे और उन्होंने भी सवस्था पन किया था, एवं वह संघ सदा विस्तारको प्राप्त होता रहा था । यद्यपि वह भारतकी सीमाके बाहर विस्तृत नहीं हुआ तथापि भारतमें तो वह आज तक जीवित रहा है अर्थात् जिसे हम प्रत्येक बुद्ध कह सकते हैं उस वर्गमें तो महावीरको रख ही नहीं सकते । जो ज्ञानी वास्तविक रीत्या अपनी ही आत्माके लिये जीता है' जो दूसरोंको कुछ भी हितोपदेश न दे' जो किसी को शिष्य न बनावे'

जो कोई संप्रदाय स्थापन न करे' जो किसी भी संप्रदाय में प्रवेश न करे' जो संसारमें प्रचलित संप्रदायोंसे सीख कर नहीं परन्तु अपने अनुभवोंसे निर्णय पर आवे और जो मात्र तपस्वी जीवन व्यतीत करे उसे ही प्रत्येक बुद्ध कह सकते हैं। बेशक इस प्रकार महावीरको प्रत्येक बुद्ध से ऊँचा स्थान दे सकते हैं। अर्थात् जिसवर्गके मनुष्य अपनी आत्माके लिये विशेष चिन्ता करते हैं और जिसके शिष्य इस तरह आत्मोद्धारके लिये ही पुरुषार्थ करते हैं उस वर्गमें उन्हें रक्खा जा सकता है।

इस प्रकार प्रत्येक बुद्ध और बुद्ध इन दोनोंके वाचक श्रेणिपर महावीर थे। वे संकुचित वृत्तिवाले थे। बुद्ध विशाल प्रकृतिके थे। महावीर लोक समाजमें मिलनेसे दूर रहते थे और बुद्ध लोक समाजकी सेवा करते थे। यह भेद कितने एक अंश में इस बातसे स्पष्ट होता है कि उनके गृहस्थ शिष्य प्रसंगोपात जब कभी उन्हें भोजन करनेक लिये न्योता देते तब बुद्ध उनके घर पर जाते थे। परन्तु महावीर तो यह जानते थे कि समाज जीवनके साथ साधुको ऐसा सम्बन्ध घटित नहीं। इसी तरह कितनेएक अंशमे यह भेद इससेभी विशेष स्पष्ट होता है कि बुद्ध विहार करते समय दूसरोंके साथ बातचीत करते थे और अपने जीवन विचारों एवं जीवन

आचारोंमें फेरफार होते हुये लोगोंको उपदेश देनेके और उन्हें ऊपर लानेके भावमें भी वे परिवर्तन कर लेते थे। मनुष्योंसे दूर रहनेकी वृत्तिके कारण तपस्वी महावीरने सर्व मनुष्योंके आत्मोद्धारके लिये ऐसा कुछ भी न किया था। आध्यात्मिक उपदेश करनेके और शिक्षा देनेके लिए उन्होंने जान बूझकर कभी किसी मनुष्यको बुलाया हो ऐसा मालूम नहीं होता। बल्कि जब कोई मनुष्य अपने आप ही धार्मिक चर्चा करनेके लिए उनके पास आजाता तब वे कदाचित् ही अपनी धार्मिक श्रेणी उसे समझाने की पर्वाह करते थे। परन्तु मात्र अपने मन्तव्य-कठिन सिद्धान्तके अनुसार उसे कठिन उत्तर देते थे।

इन विषयोंमें बुद्ध किस प्रकारकी प्रणाली ग्रहण करते थे यह बात उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली अनेक कथाओं से स्पष्ट मालूम होती है। उनमेसे एक कथा यहाँ पर दी जाती है। इस कथाका नाम 'शृगाल शिक्षा' है। अर्थात् इसमें शृगाल नामक एक मनुष्यको दिए हुए उपदेशका वर्णन आता है। वह मनुष्य गृहस्थाश्रमी था' इस लिये हमारे रिवाजके अनुसार उसे मात्र शृगाल नहीं परन्तु भारतीय रिवाजके अनुसार शृगाल सेठ कहना चाहिये। यद्यपि इस नामके साथ यहाँपर कुछ सम्बन्ध नहीं है' मात्र इस सम्बन्धसे कुछ कहना चाहिए, क्योंकि

कथाका नाम उसके नामसे सम्बन्ध रखता है। हमारे इस गृहस्थाश्रमीका पालन पोषण ब्राह्मण आचार विचारमें हुआ था। उस धर्ममें प्रकृतिपूजा दूसरे स्वरूपमें इस प्रकार चली आती थी कि बहुत मनुष्य समस्त प्रकृतिकी पूजा करनेके बदले संक्षेपमें भिन्न भिन्न दिशाओं की पूजा करते थे। कितनेएक लोग मात्र नमस्कार करते' कितनेएक अमुक अमुक मंत्र उच्चारण करते और कितनेएक मनुष्य अमुक एक दिशामें कुछ जलांजलि देते थे। इनमें से तीसरे प्रकारके मनुष्योंको जैन शास्त्रमें 'दिशापोखिय' कहा है। हमारा वह गृहस्थाश्रमी प्रथम वर्गका प्रकृति पूजक था। मस्तकके खुले हुये केशोंसे और जलार्द्र वस्त्रों से (जलार्द्र वस्त्र शायद जलांजलिका चिन्ह हो) हाथ जोड़कर प्रातःकालके समय चार दफा पूर्वकी ओर' दक्षिण की ओर' पश्चिम दिशाकी तरफ और उत्तरकी ओर उसने नमस्कार किया। इसके बाद अन्तमें उसी प्रकार चार दफा आकाशकी ओर और चार ही वक्त पातालकी तरफ मस्तक झुकाया। भारतवासी अतिप्राचीन कालसे साधारणतः छः अथवा दश दिशायें मानते हैं। हमारी चार या आठ दिशाओंमें आकाश और पाताल दिशा मिला लेनेसे पूर्ण होती हैं। हमारा वह प्रकृति पूजक एक समय अपनी प्रातःकालीन पूजा कर रहा था। ठीक उसी

समय उसके घरके आगे बुद्धदेव आ पहुँचे। वे उसके पास गये, वह क्रिया किस लिये करता है इसका कारण पूछा। उसने उत्तर दिया मेरे पिताने मुझे ऐसा करना सिखलाया है और अपने पिताकी शिक्षाको मैं स्वीकारता हूँ एवं पूज्य मानता हूँ इस लिये मैं यह क्रिया करता हूँ। बुद्ध मानते थे कि प्रकृति पूजासे इस प्रकारके संस्कार बन्ध जाते हैं जिससे अन्तमें मनुष्यका अशुभ होता है' इस लिए वे बोले—दिशाओंकी पूजा करनेकी अपेक्षा केवल भिन्न प्रकारकी छः भावनाओंके अनुसार आचरण करनेसे मानव जन्मकी सफलता होती है। वे श्रेष्ठ प्रकारकी छः भावनायें इस तरह हैं—पूर्व दिशामें मा बापकी स्थापना करना' गुरु और आचार्यकी दक्षिण दिशामें स्थापना करना। पुत्र स्त्रीकी स्थापना पश्चिम दिशामें करना। मित्र सम्बन्धियोंको उत्तर दिशामें रखना' ब्राह्मण श्रमणों की याने पवित्र पुरुषोंकी स्थापना ऊर्ध्व दिशामें करना और दास जनोंकी स्थापना अधो दिशामें करना। इस प्रकार बुद्धदेव रास्ते चलते मिले हुए गृहस्थाश्रमीकी प्राचीन—पूर्वजोंकी प्रकृति पूजामें—आबद्ध गृहस्थाश्रमीकी भावनामें उतरना जानते थे, अपनी मानव धर्मकी भावना उसे समझाना जानते थे, इतना ही नहीं किन्तु हमारी इस कथामें आगे लिखे मुजब इन ६ भावनाओंका परिपूर्णकर

उसमें से कर्तव्य शिक्षा योजित करके परस्परके कर्तव्यमें जोड़नेके लिये भी उन्होंने इस प्रकार नये विचार बढ़ाये।

सन्तानोंको ही अपने माता पिताकी सेवा करना है इतना ही नहीं बल्कि माता पिताको भी अपनी सन्तानोंकी सेवा करनी चाहिये। शिष्योंको ही अपने गुरुओंकी सेवा करना है इतना ही नहीं बल्कि गुरुओंको भी शिष्योंकी सेवा करनी चाहिये। पतिको ही अपनी पत्नीकी सेवा करनी चाहिये इतना ही नहीं किन्तु पत्नीको भी अपने पतिकी सेवा करनी चाहिये। मनुष्यको अपने मित्रकी सेवा करनी चाहिये इतना ही नहीं बल्कि मित्रोंको भी उन मनुष्योंकी सेवा करनी चाहिये। सेवकोंको ही अपने मालिकोंकी सेवा करनी चाहिये इतना ही नहीं किन्तु मालिकों को भी अपने सेवकोंकी सेवा करनी चाहिये। गृहस्थियोंको ही साधुओं की सेवा करनी चाहिये ऐसा ही नहीं बल्कि साधुओंको भी गृहस्थियोंकी सेवा करनी चाहिये।

इस प्रकार छोंट कर निकाली हुई दूनी आज्ञाओंमें की प्रत्येक आज्ञाको फिरसे याद रखनेमें और सुगमतासे समझमें आसके इसलिए उपमा रूपमें बुद्धने उन्हें पुनः पाँचगुनी बढ़ाईं और इससे समुच्चय ६ गुनी कर्तव्य सम्बन्धवाली दश आज्ञायें हुईं। उदाहरणके तौरपर

उनमेंसे पहली दश आज्ञायें लें—

(१) मा बापोंको अपनी सन्तानोंको पाप कर्मसे निवारण करना।

(२) उन्हें पुण्य कर्मकी ओर लगाना।

(३) उन्हें पढ़ाना लिखाना।

(४) उनकी शादी करना (और)

(५) उन्हें अपना उत्तराधिकारित्व देना चाहिये।

(६) सन्तानोंको इसलिए विचार करना चाहिये कि जिन्होंने मेरा पोषण किया है उनका मैं पोषण करूँगा।

(७) जो मेरे आधार पर निर्भर हैं उन्होंके प्रति मैं अपना कुटुम्ब कर्तव्य पालन करूँगा।

(८) माता पिताके धनका मैं रक्षण करूँगा।

(९) मैं उनके उत्तराधिकारित्वके योग्य बनूँगा।

(१०) जब वे चले जायेंगे तब मैं उन्हें स्मरण में रखकर उनकी पूजा करूँगा।

इस प्रकार हमारी इस कथाका सारांश गृहस्थाश्रमी मनुष्योंको गृहस्थ धर्मका शिक्षण देता है और जिस आर्य अष्टांगिक मार्गके विषयमें हम आगे कथन कर चुके हैं वह तो सर्वसाधारण धर्म है। वह साधु और गृहस्थ इन दोनोंके साथ समान रीतिसे सम्बन्ध रखता है। दोनों ही जगह आन्तर आत्मा तो

एक ही है। इस नये वर्गीकरणमें भी सम्यक् शब्दका भाव तो है ही। मनुष्योंका पारस्परिक सम्बन्ध सम्यक् याने शुभ होना चाहिये।

अहिंसा और दया

उपरोक्त कथा और उसमें से उपलब्ध होनेवाले कर्तव्य धर्मके विषयमें चर्चा किये बाद महावीर और बुद्ध इन दोनों महापुरुषोंके बीचमें जो भेद था उस पर हम फिरसे दृष्टिपात करते हैं। एकमें हमने तपस् अर्थात् काय क्लेश देखा और दूसरेमें सम्यक् याने यथार्थ शुभ। एकमें आत्म विजय देखा और दूसरेमें आत्मत्याग। एकमें संकोच तथा लोकसमाजसे दूर रहनेकी वृत्ति देखी और दूसरेमें विशालता, एवं लोक समाजके प्रति मित्रताकी वृत्ति। इन महान् पुरुषोंका व्यक्तित्व भली प्रकार समझनेके लिए इनकी प्रत्येककी एक भावना पर अभी हम और विचार करेंगे। महावीर

ने सदा सर्वदा बारम्बार अहिंसाकी-किसीभी जीवित प्राणीको न मारनेकी आज्ञा की है। अहिंसा जीवरक्षण की भावना यह उनका स्पष्ट जगत, मनुष्य और प्राणी के साथवाला उच्चमें उच्च सम्बन्ध है। इससे विपरीत बुद्ध धर्मकी नींव उनके आत्मभोगके आधार रूप दया और सहानुभूति पर चिनी गई है। दोनों धर्मों के मूल रूप ये उन दोनों महापुरुषोंकी स्पष्ट भावनायें हैं। बुद्धने जो महावीरसे आगे यह एक कदम रक्खा इसका स्पष्टतया उनपर प्रभाव पड़ता है।

अहिंसा और दयाकी भावनायें भारतके इन दोनों धर्म दर्शनोंमें बहुत ही गहरी उतरी हुई हैं और अब हम इसके उस गहरेपन पर ही विचार करेंगे।

"तू हिंसा मत कर" यह स्वाभाविक रीत्या ही भारत में बहुत प्राचीन कालसे एक महाज्ञा मानी जाती आई है परन्तु अद्वैतवादकी स्थापना होते एवं पुनर्जन्मका सिद्धान्त उपस्थित होतेही परिणाम यह आया कि यह आज्ञा धीरे धीरे इस प्रकार विकाशको प्राप्त हुई कि किसी भी प्राणीकी हिंसा करना यह पाप कर्म है' क्योंकि प्राणीभी पुनर्जन्म पाते हैं और उस जातिमें मनुष्यकी आत्माभी अवतार लेती है। ब्राह्मण धर्ममें यज्ञमें पशु होमनेकी क्रिया द्वारा यह पशुकी हिंसा पवित्र मानी

जाती थी। परन्तु देवोंकी पूजाके लिए होती हुई यह क्रिया भी धीरे धीरे अकार्य माना जाने लगा और ज्यों ज्यों एक ओरसे ब्राह्मण धर्मका सर्वसाधारण प्रभाव ढीला पड़ता गया त्यों त्यों दूसरी ओरसे इस धर्म ने स्वयं ही पशु बलिकी कीमत कम करनी शुरू की और उन पशुओंके बदले पदार्थोंको होम करना प्रारम्भ कर दिया। महावीर और बुद्धने अपनी आज्ञाओंमेंसे इस आज्ञाको प्रथम स्थान किस लिए दिया और प्राणीमात्र के जीवको बचाना इस प्रकारका रूप इस आज्ञाको किस तरह प्राप्त हुआ ? यह बात अब भली प्रकार समझमें आ सकेगी। परन्तु यह बात भी निश्चयपूर्वक मालूम हुई है कि इन दोनों महापुरुषोंसे पूर्वमें साधुजीवनकी व्यव-स्था बाँधनेवाले एक और धर्म संस्थापकने भी इस आज्ञाको प्रथम स्थान दिया था। अब हमें यहाँ पर इस बातके विषयमें भी विचार करना चाहिये। कि वे महापुरुष कौन थे ? साधु संघकी स्थापना करनेवाले वे प्राचीन आचार्य पार्श्वनाथ थे। उनके शिष्य उनके नाम परसे पार्श्वापत्या कहलाते थे। ऐसा मालूम होता है कि जब महावीर हुए तब पार्श्वनाथ विद्यमान थे परन्तु उनका संघ चला आ रहा था और फिर वह महावीरके स्थापन किये संघमें मिल गया था। महावीरभी यह मानते थे

कि मै स्वयं भी पार्श्वनाथके मार्गमें ही चल रहा हूँ और उन्हीके उपदेशका विस्तार करता हूँ एवं उसे परिपूर्ण करता हूँ। इस आज्ञाको परिपूर्ण करनेके लिए उन्होंने पार्श्व नाथका अनुसरण किया और वल्कि उनसेभी आगे चढे। इस आज्ञाके अनुसार पार्श्वनाथने चार आज्ञाओंकी योजना घड़ी थी। फिर महावीरने उनमें पांचवीं और बढ़ाई और बुद्धने भी इन पॉच आज्ञाओंका पालन करनेके लिए अपने शिष्योंको कहा है। प्रत्येकमें अमुक अमुक भेद हैं।

पार्श्वनाथकी चार आज्ञायें इस प्रकार हैं—

(१) (सव्वाओ पाणाइ वायाओ विरमणम्) सर्वप्रकारकी जीवहिंसा से दूर रहना।

(२) (सव्वाओ मूसावायाओ विरमणम्) सर्वप्रकारके मिथ्या भाषणसे दूर रहना।

(३) सव्वाओ अदिन्नादाणाओ विरमणम्) न दी हुई किसीभी प्रकारकी वस्तु लेनेसे अर्थात् सब प्रकारकी चोरी करनेसे दूर रहना।

(४) (सव्वाओ वहिद्धा दाणाओ विरमणम्) सर्वप्रकारके बाहरके दानसे दूर रहना (अर्थात् निर्धन रहना)

बाहरका दान (वहिद्धा दाण) याने मैथुन (अर्थात् वीर्य दान) इस प्रकारका भी अर्थ किया हुआ मालूम

होता है। परन्तु सर्वप्रकारके बाहरके आदानसे दूर रहना' इस तरहका अर्थ सर्वसामान्य रखनेमें आया है और इसमें दारिद्रता व्रतको प्राधान्य दिया गया है। इस प्रकार पार्श्वनाथकी यह चौथी आज्ञा महावीरकी चौथी ही आज्ञासे मिलती हुई नहीं बल्कि पाँचवीं आज्ञासे भी साम्यता रखती है। वास्तवमें तो यह अर्थ जैन भावना को अनुसरण करनेवाला है। पार्श्वनाथकी आज्ञाओंकी यादीको चाउज्जाम (संस्कृतमें-चतुर्याम) जिसे ब्राह्मण धर्मके चतुर्नियम कह सकते हैं कहते हैं। बुद्धने किंवा सामञ्ञपालसुत्त में बतलाये मुजब कमसे कम बौद्ध शास्त्रों ने इन आज्ञाओंका अर्थ ग्रहण किया है। महावीरने पार्श्वनाथके चाउज्जामको (बौद्ध परिभाषामें चातुर्याम को) पकड़ रक्खा। महावीरके प्रारम्भिक वर्षों में इस प्रकार न हुआ था, क्योंकि जैन शास्त्रोंमें हरएकके सम्बन्धमें शब्द उपलब्ध नहीं होता। महावीरकी आज्ञायें इस प्रकार हैं--

(१) सव्वाओ पाणाइ वायाओ विरमणं-सर्वप्रकार की जीवहिंसासे दूर रहना।

(२) सव्वाओ मुसावायाओ विरमणं- सर्वप्रकारके मिथ्या भाषणसे दूर रहना।

(३) सव्वाओ अदिन्ना दाणाओ विरमणं-सवप्रकार

की न दी हुई वस्तुयें ग्रहण करनेसे अर्थात् सर्वप्रकारकी चोरी करनेसे दूर रहना ।

(४) सव्वाओ मेहुणाओ विरमणो–सर्वप्रकारके मैथुन से दूर रहना।

(५) सव्वाओ परिग्गहाओ विरमणो–सर्वप्रकारके परिग्रहसे दूर रहना ।

बुद्धकी पाँच आज्ञायें इस प्रकार हैं—

(१) पाणातिपाता विरमणी–जीवहिंसासे दूर रहना ।

(२) अब्रह्मचर्य विरमणी–अब्रह्मचर्यसे दूर रहना ।

(३) अदिन्नादाणा विरमणी–न दी हुई वस्तु लेनेसे अर्थात् चोरी करनेसे दूर रहना ।

(४) मुसावादा विरमणी–मिथ्या भाषणसे दूर रहना।

(५) सुरो-मिरय-मज्जा पमादठाणा विरमणी–शराब पीनेसे, वेदरकारी से, मिथ्या आरोप करनेसे दूर रहना ।

उपरोक्त आज्ञाओंका मूलभाव हा नहीं बल्कि अर्थ भी कदाचित् पाठकोंको विचित्र और नवीन मालूम देगा, अमुक अमुक कार्य करनेसे दूर रहना, यह निकम्मा सा मालूम होगा, अतः हमें कहना चाहिये कि हम सब यहूदी और खिस्ती धर्मके बलसे इन आज्ञाओंके उस समयसे पीछेके समयके स्वरूप द्वारा गहरे रंगमें रंगे हुए हैं। हमें स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा हुई है कि 'तू हत्या न

करना' अथवा तू चोरी न करना। इस प्रकारकी तमाम आज्ञाओंमें और इस पुराने इकरारमेंकी आज्ञाओंमें बराबर यही भाव झलकता है इतना ही नहीं बल्कि ये आज्ञायें ज्यों ज्यों विकाशको प्राप्त होती गई त्यों त्यों इनमें का भाव भी विकशित होता गया है। क्राइष्टने जब यह बढ़ाया कि "तेरी वाणी हां-हां-ना-ना हो सकती है इससे जो अधिक सो खराब में से है" अथवा जब उन्होंने यह स्पष्ट किया कि "यों भी कहा गया है कि तू व्यभिचार न करना, परन्तु मैं तो तुम्हें कहता हूं कि जो कोई अमुक स्त्रीकी ओर मोह दृष्टि से देखता है उसने अपने हृदयमे उसके साथ व्यभिचार किया ही है" तब इसमें वह विकाश स्पष्ट रीत्या झलक आता है। इस बातके विषयमें हम इन्कार नहीं कर सकते कि भारतके धर्म संस्थापक स्वयं चाहे जितने आतुर हों तथापि एक बातमें वे पश्चिम एशियाके धर्म संस्थापकोंसे जुदेपड़े हैं और वे इस प्रकारकी उनकी आज्ञायें उपदेशपूर्ति के लियेही और प्राचीनतासे ढीली पड़ गई हैं। यहूदियों एवं ख्रिस्तियोंकी आज्ञायें पालन करनेकी और ताजी हैं। यद्यपि इसमेंकी कितनी एक आज्ञायें यहूदियों और ख्रिस्तियोंके समानही सबल एवं दृढ़ रही हैं। क्योंकि वे साधुओंको पालन करनेकी हैं। भारतके धर्म संस्थापकों ने अपने संसारी शिष्योंके लिए जान बूझकर छूट रक्खी

है। उदाहरणके तौरपर पार्श्वनाथ और महावीरने अपने श्रावक शिष्योंके लिए ये आज्ञायें ढीली कर डाली हैं और मात्र स्थूल हिंसा, स्थूल मिथ्या भाषण, स्थूल चोरी और स्थूल मैथुनसे दूर रहनेकी उन्हें आज्ञा की है। प्रथम की सक्त आज्ञाओंमें से जहाँ पर सव्वाओ (सब तरहके) शब्द रक्खा है उसके बदलेमें इन आज्ञाओंमें थूलाओ [स्थूलसे) शब्द रक्खा है।

हम अभी तक जो देख गये हैं उसके सम्बन्धमें वास्तविक रीतिसे तो पाँच आज्ञाओंमें पहिलीही जीवहिंसा से दूर रहनेके सम्बन्धवाली आज्ञा हमारी चर्चाके लिए अधिक महत्वकी है। महावीर और बुद्धने जिस स्वरूपमें इन आज्ञाओं को रक्खी हैं इससे भी इन दो पुरुषोंके बीच का भेद नये सिरसे झलक आता है। यद्यपि प्रथम स्वरूपमें तो दोनो ही व्यक्ति प्राणी और मनुष्यका जीव बचानेकी एकसी ही आज्ञा करते हैं और यहाँतक ये दोनो समान भारत भूमिका पर हैं। परन्तु इसके बाद महावीर और ये एकले ही अपने आपके और अपने अनुयायियोंके लिए इस भूमिका को बहुत ऊँचा ले जाते हैं। क्योंकि ये इस आज्ञाको बुद्ध और दूसरोंसे अधिक तीव्र बनाते हैं और उन्हें पालन करानेके लिए विशेष आग्रह करते हैं। अद्वैतवादके

मतका आश्रय लेकर वे समस्त प्रकृतिमें जीवका आरोपण करते हैं। मनुष्यों और पशुओंकी ही नहीं बल्कि बनस्पति एवं अन्य तत्वोंकी–जल, वायु, अग्नि और पृथवीकीभी बने वहाँ तक हिंसा न करनी चाहिये। जीववाले या बिना जीववाले देख पड़ते किसीको हनन न करना, उन का दुरुपयोग न करना, उन्हें न बिगाड़ना। विशेषतः इससे भी सूक्ष्म और सबमें सूक्ष्म जन्तुओंको मरतों और दुःख पातोंको बचाना चाहिये और इसीलिए आहार करते समय पात्रका उपयोग करना चाहिये। मुँहके सामने मुँहपत्ती–(बोलते समय सूक्ष्म जन्तुओंकी रक्षाके लिए एक वस्त्र) रखना चाहिये। प्रवाही पदार्थोंको छानकर उपयोगमें लेना चाहिये। जमीन साफ करनेके लिए रजोहरण रखना चाहिये। इस प्रकारकी अन्यभी सारसँभाल रखना चाहिये। ऊपरसे देखनेमें तो यह मालूम होता है कि यह पात्र वगैरहका उपयोग महावीर के धर्ममें फरजियात हैं, वह उसका उपयोग करनेवालेके रक्षणार्थ है, क्योंकि इससे भी सूक्ष्म और बड़ी मुस्किलसे देखी जा सकें इस प्रकारकी अस्वच्छ वस्तुओंको स्वासमें और पानीमें लेनेसे बच सकते हैं एवं ऐसीही अस्वच्छ वस्तुओंको जमीन परसे अपने लिए साफ कर सकते हैं। परन्तु यथार्थ रीतिसे भिन्न भिन्न प्रकारकी स्वच्छातके

धार्मिक सिद्धान्तों की योजना मात्र आत्मरक्षणके लिए ही नहीं की गई है बल्कि सूक्ष्म जन्तुओंके लिए भी है, क्योंकि यदि पात्र वगैरहका उपयोग न किया जाय तो जन्तुओंको हानि पहुँचनेका संभव है। अतएव सर्व प्रकारकी जीवहिंसासे दूर रहनेकी यह आज्ञा विचार करने से अति उच्च सोपान मालूम होता है। यह विशेष प्रकारका सिद्धान्त और अश्रुतपूर्व उपदेश है। जरथूस्तने स्वच्छताके लिए ऐसी आज्ञा की है। परन्तु वह जुदे ही एक धार्मिक हेतुके कारण की है।

इस बातको विशेष स्पष्ट करनेके लिये हम यह भी कह देना चाहते हैं कि स्वच्छता पालन करनेकी इस प्रकार की अन्तिम आज्ञायें और उन्हें धार्मिक प्रदेशमें रखनेका विधि हमें हास्यास्पद मालूम देगा' परन्तु वास्तव रीत्या ऐसा नहीं हैं। गरम प्रदेशोंमें और बल्कि हिन्दुस्तान जैसे वनस्पतियों द्वारा फले फूले देशमें तो खास तौरपर हमारी अपेक्षा जन्तुओंसे मनुष्यको अत्यधिक सावधान रहना चाहिये। क्योंकि बिगड़े हुए पानी और खुराकमें इस प्रकारके बहुत सूक्ष्म जन्तु होजाते हैं। उदाहरणार्थ उच्छिस्ट (जूँठा) या पर्यूषित (बासी) अन्न इतना अधिक खराब माना जाता है कि वह खानेके लिये योग्य नहीं गिना जाता। यह बाततो हम सबही जानते हैं कि

अस्वच्छ पानीके कारणही हिन्दुस्थानमेंसे कभी भी हैजा (हेजेकी बीमारी) समूल नष्ट नहीं होता अतः ऐसे प्रदेशमें स्वच्छता पालन करनेकी आज्ञाओंको यदि धार्मिक प्रदेशमें स्थान दिया जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? स्थायी रीतिसे तो महावीरने स्वच्छता पालन की जो आज्ञा की है वह मनुष्यके स्वास्थ्यके कारण नहीं किन्तु जन्तुओं और कीट पतंगकी हत्या न हो इस हेतुसे की है। परन्तु गहरा विचार करके देखें तो इसमें भी कुछ जुदा ही भेद हैं। मनुष्य मात्रके स्वभावमें कुछ ऐसाही है कि प्रथम तो वह अमुक कर्म करता है और फिर उस कर्मके आधार विषयमें ज्ञान (Conseionsness) प्राप्त करता है यानें कर्म तो वास्तविक रीत्या प्राणी धर्मके स्वभाव में रहे हुए अज्ञानका (Unconseiousness) परिणाम है। इसी लिये कर्म करनेमें ज्ञान यह सक्रियकी अपेक्षा अधिक अक्रिय रहता है, और फिर इसके परिणाममें मनुष्य उस कर्मको विचार पूर्वक व्यवस्थित करता है एवं उसे सत्यतया निश्चित करता है। ज्यों ज्यों उसका वह ज्ञान विकाशको प्राप्त होता जाता है त्यों त्यों वह स्पष्ट रूपसे असर करता है और कर्मकी व्यवस्था करता है परन्तु व्यक्तिगत जीवनके आचरणों एवं अभ्यास और उद्देशकी नीवमें सदैव अर्ध ज्ञान, अनिच्छा और स्वभाव

प्रेरणाका निवास रहता है। बहुत सी दफा ऐसा बनाव बनता है कि जो ज्ञान अपने प्रदेशमें उस कर्मको परिपूर्ण करता है तथा अनुमति देता और उसे प्रेरता है उस ज्ञानको स्पष्ट करनेवाला और आधार देनेवाला भाव अन्त तक यथार्थ हेतुसे जुदाही देख पड़ता है, और वह हेतु नजरके सामने ही होता है। विशेषतः धार्मिक इतिहासमें, भिन्न भिन्न मन्तव्योंमें एवं उद्देशोंमें आरोपित किये जाते हेतु और उन हेतुओंके साथ वेष्टित किए हुये अथवा उनका स्वरूप लेते हुए ज्ञानद्वारा नियोजित किये गये मिथ्या सिद्धान्तोंके अन्तरका भेद हमें जानना चाहिये।

इस प्रकार महावीरने भी सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म जन्तुओंको बचानेके कारण प्राणी मात्रके रक्षण करनेका सिद्धान्त योजित किया हो' आज्ञा की हो और उसके बाद इस सिद्धान्तने उनमें विकाश पाकर विशेष जागृति की हो और इससे अस्वच्छता एवं बेदरकारीके कारण सूक्ष्म जगत्स मनुष्यको जो हानि होनेका संभव है उससे भी बचानेके हेतुसे उन्होंने (महावीरने) नये सिद्धान्तोंकी योजना की हो तो यह संभव है।

तथापि हम महावीरकी पहली आज्ञाके अन्तिम सिद्धान्तोंके विषयमें विकारको प्राप्त हुए उसके गहरेपन तक मानसशास्त्रकी पद्धतिसे विचार न करें और जैसा

ऊपरी स्वरूपसे देख पड़ता है वैसाही देखें तो भी यह सर्वथा महावीरके धर्मकी नीव स्वरूप है। शस्त्र परिज्ञा याने प्राणी मात्रको जो कुछ शस्त्रके समान भयंकर है उसका परिज्ञान (और उसका परित्याग) ऐसे मूल नामवाले प्रथम (आगम) ग्रन्थके प्रथम अध्यायमें संघको दिये हुए जो उपदेश' सिद्धान्त और दृष्टान्त हैं उन सबमें यह सिद्धान्त ही पाया स्वरूप है।

हम यह देख गये कि बुद्धने भी जीव हिंसासे दूर रहनेकी आज्ञा की है। परन्तु भारतके अन्य विचारकों के समान उन्होंने भी मात्र चली आती हुई प्रणालीका अनुसरण करके यह आज्ञा की है। उनमें प्राणी रक्षणकी भावना मुख्य नहीं है। मुख्य भावना तो दया और सहानुभूति की है। यह भावना अथवा यथार्थ रीतिसे कहें तो उनके ये आन्तरात्माके प्रयास, सहानुभूतिकी लग्न और साथही साथ सहायता करनेकी प्रबल भावना उनमें विकाशको प्राप्त होकर उनके अमुक प्रकारका धार्मिक पाया रूप होगई। बुद्धने अपनी दया और सहानुभूतिको संसार-दुःख के नये सिद्धान्त पर स्थापन की। इस भारतीय साधु को इस प्रकारका संसार दुःख कुछ स्वयंसिद्ध मालूम हुआ और वह इतना यथार्थ मालूम हुआ कि सर्व प्रकार के जीवोंका रक्षण करना यही उन्हें धर्म मालूम दिया।

बुद्धने संसार दुःखका पृथक्करण करके किस प्रकार छूटनेकी योजना की यह बात खास जानने लायक है। संसार दुःखका सर्वसाधारण सिद्धान्त इस संसार से उपरत हुए (उक्ताये हुये) की भावना है। सर्व भवोंकी अनित्यता के विचारसे ज्ञान उत्पन्न हो और पुनर्जन्म के सिद्धान्तसे हरएक मनुष्यको पुनर्भव मिलनेवाला याने एक प्रकारसे यह संसार उसके साथ साथही कैद खाना रूपसे रहता है एवं उसे इस कैदखानेमें सदा सर्वदा नये नये भवोंमें परिभ्रमण करना पड़ता है। एक भवमेंसे दूसरे भवमें जाना पड़ता है। यह जो अनन्त और दुःखपूर्ण परिभ्रमण है इसे साधु लोग संसार कहते थे और अन्तमें इस संसारसे मुक्त होना स्पष्ट शब्दोंमें कहें तो मुक्ति, विमुक्ति, मोक्ष' सिद्धि या निर्वाण प्राप्त करना यह उन सब साधुओंका मुख्य आशय था। इसे हम अनन्त कल्यण कह सकते हैं। अमुक साधुसंघ इसमेंको अमुक किसी आज्ञाका स्वीकार करता। दूसरा संघ दूसरी आज्ञाको स्वीकार करता था। महावीरने मुख्यतया मोक्ष और सिद्धिका स्वीकार किया है। यह भावना लगभग निषेध सूचक है। इसमें किसी एक अन्तको पानेकी-विराम प्राप्त करनेकी भावना समाई है। परन्तु फिर भी यह तो स्पष्टही है कि इस पारलौकिक सीमा तक निश्चय भावसे पहुँचने एवं

भावनामय भवोंकी योजना करने और इसे कल्याण मय जगत् रूपसे कल्पित करनेके इसमें प्रयास रहे हुए हैं। मोक्ष प्राप्त करना या निर्वाण प्राप्त करना इसे अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट भावना मानना तथा स्वप्नमेंसे निकल कर उच्च पद प्राप्त करनेके प्रयत्न करना ये उनके (बुद्धके) क्रमिक स्वाभाविक प्रयास थे। उस समयके भ्रमजालने बुद्ध और महावीरको किस प्रकार अपने अन्दर वेष्टित किया था इस बात पर हम अन्तमें विचार करेंगे। इस वक्त तो हमें यह देखना है कि निर्वाणकी उस युगकी भावनाको इस युगकी मूर्तिमान् भावनाका स्वरूप देने वाली संसार दुःखकी भावना बुद्धने किस प्रकार योजित की। उन्हें यह मालूम दिया कि संसार दुःखको उसके यथार्थ स्वरूपमें देखना और उसे दूर करनेके लिये उपाय शोधने-ढूँढनेमें ही सच्चा पुरुषार्थ है। रोग मालूम होनेपर जिस प्रकार उसके उपाय शोधना आवश्यक है उसी प्रकार उन्हें इस विषयमें मालूम हुआ। इस ज्ञानके लिये उन्हों ने चार सूत्र घड़ निकाले और उनको उन्होंने चार आर्य सत्य कहा है। इसके बाद अपने धर्मोपदेश एवं प्रारम्भ का कार्यक्रम घड़कर काशीमें प्रथम उन चार सूत्रोंके सम्बन्धमे उपदेश देना शुरू किया। यों कहा जाता है कि जिन साधुओंको उन्होंने प्रथम उपदेश दिया वे बिल:

कुल अल्प संख्यामें थे। पहले जिस स्थानमें बुद्ध तप करते थे उस स्थानमें दूसरे भी पाँच साधु तप करते थे' परन्तु पीछेसे वे तपश्चर्या छोड़कर काशीकी ओर चले गये थे। इधर बुद्धने अपनी तपश्र्या चालू रक्खी और वे पाँचों संसार मोहमें फसे। वे ही पाँच साधु बुद्धका प्रथम उपदेश सुनने आये थे। जब उन्हें बुद्ध मिले तब प्रथम तो उन्होंने उनका उपदेश सुननेकी इच्छा नहीं की, परन्तु वे एक समयके बुद्धके तपके साथी थे इस लिए जो ज्ञान उन्होंने स्वयं प्राप्त किया था और अन्तमें इस प्रकार प्राप्त किया हुआ यह ज्ञान महासत्यस्वरूप है ऐसा उन्हें निश्चय हुआ था, एवं जो ज्ञान उनकी आत्मामें उतर गया था उस महाज्ञानका उपदेश देनेके लिये वे सबसे प्रथम उन पाँच साधुओंके पास गये थे। उन साथियों ने बुद्धको संसारमें डालनेका उपदेश किया' उस वक्त बुद्धने सबसे पहले उन्हें तपस् और संसार भोग इन दोनों के बीचके अपने मार्गका—सम्यक्के जिन आठ मार्गोंके सम्बन्धमें हम प्रथम विचार कर चुके हैं उपदेश दिया।

उन चारोंमेंसे प्रथम सत्य दुःख है' दूसरा सत्य दुःखका कारण' तीसरा सत्य दुःखका निवारण और चौथा सत्य उस दुःखके निवारण करनेका मार्ग है। इस प्रकार ये चार मार्ग सूचक शब्द हैं और इनमेंसे चार मार्गसूचक

सूत्रोंका विकाश करते हैं।

(१) दुःख याने संसार दुःख।

(२) दुःखोत्पादक याने दुःखका कारण।

(३) दुःख निरोध याने दुःख निवारण और

(४) दुःख निरोध मार्ग याने उस दुःखको निवारण करनेका मार्ग।

चौथे शब्दमें से अनुमानको विकाश देकर बुद्धदेव, मार्ग सम्बन्धी उपदेश पर आते हैं याने सम्यक्के अष्ट मार्ग पर आकर ठहरते हैं और उनके धर्मका सच्चा, एवं एक मात्र अनुष्ठान वहाँ पर ही है।

वहाँतक तो बुद्धकी विचार श्रेणी सरल और समझी जा सके ऐसी है। सम्यक् के नामसे उपदिष्ट जिसे हम आदर्शमय जीवनके सिद्धान्तकी भूमिका या सिद्धान्तमय भूमिका कह सकते हैं उसका आधार संसार दुःखके इस चतुर्विध सिद्धान्त पर रचा हुआ है। इस भूमिकाके भी नीचे जो इसे आधार देनेवाली एक दूसरी भूमिका है, उसके सम्बन्धमें हम फिर विचार करेंगे। इस समय तो हम, इस बातपर विचार करते है कि काशीमें दिये हुए इनके उपदेशमें संसार दुःखका सिद्धान्त किस प्रकार विकासको प्राप्त हुआ।

चार सूचक सूत्र या आर्यसत्यके सम्बन्धमें उन्होंने

इस प्रकार उपदेश किया ('संसार दुःख' इस मूल शब्दके बदलेमें मात्र दुःख शब्दका ही उपयोग करूँगा)।

(१) इसके बाद हे साधुगण ! दुःखविषयक आर्य सत्य है। जन्म यह दुःख है' जरा यह दुःख है' व्याधि यह दुःख है' मरण यह दुःख है' अप्रिय वस्तुका योग यह दुःख है' प्रिय वस्तुका वियोग होना यह दुःख है' जिस वस्तुके लिये कामना उसका न प्राप्त होना यह दुःख है। संसारमें हमारा समस्त जीवन यह दुःख है।

(२) इसके बाद हे साधुओ ! दुःखसे (याने इसके कारणसे) दूर रहना यह आर्य सत्य है। इसका कारण जन्मजन्मान्तर परिभ्रमण करानेवाली तृष्णा' इसके साथ जहाँ तहाँ आनन्द दिखानेवाली वासना' मोहतृष्णा' भव तृष्णा' अनित्यताकी तृष्णा है।

(३) इसके बाद हे साधुओ ! दुःखका निवारण करना यह आर्य सत्य है। इस वासनाका सर्वथा नाश करके इस तृष्णाका निवारण करना' इसे जाने देना' इससे मुक्त होना' इसे छोड देना' इसे कोई स्थान न देना।

(४) इसके बाद हे साधुओ ! दुःखको निवारण करनेका मार्ग यह आर्य सत्य है। यह मार्ग आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग है और वह इस प्रकार है। सम्यक् दृष्टि' सम्यक् संकल्प' सम्यक् वाक्' सम्यक् कर्मन्, सम्यक् आजीव'

सम्यक् व्यायाम' सम्यक् स्मृति' सम्यक् समाधि।

इस चतुर्विध सिद्धान्तके लगभग एक एक शब्द पर विचार करनेकी आवश्यकता है। उदाहरणके तौर पर देखें तो उपदेशकी ओर दृष्टि करनेसे मालूम होगा कि बुद्धने सर्वसाधारण लोकको नहीं परन्तु भावनामें आगे बढ़े हुए साधुओंको अपनी सम्यग् आज्ञाओंका सैद्धान्तिक पाया दिखलाया है। अथवा 'आर्य' इस संज्ञाका उपयोग महावीर और दूसरों (धर्मप्रवर्तकों) ने नहीं किया। परन्तु बुद्धने ही इस संज्ञा द्वारा अपने मुख्य सिद्धान्त और साधु जीवनमें पालन करनेके मुख्य संयम-जिसे कि हमने मध्यम मार्ग कहा है इन दोनोंके बीच सम्बन्ध रखनेवाला पुल बांधा है।

अब हम एक-एक शब्दपर न ठहरकर चार सत्योंमें से विकाशको प्राप्त हुई विचारश्रेणी पर विचार करते हैं। बुद्धने दुःखको और मात्र दुःखको ही मूल भावना मानी। दूसरे अनेक प्रत्येक बुद्धोंकी तरह अनित्यताको या संसार मेंसे पलायन कर जानेकी भावनावाले दूसरे अनेक विचारकोंके समान कर्मको याने जीवको संसारमें बाँध रखनेवाले कार्यको', सांसारिक जीवन या सांसारिक पुरुषार्थको उन्होंने मूल भावना न मानी। बेशक दूसरोंके समान बुद्ध अनित्यता और कर्मके सम्बन्धमें बोलते तो हैं ही।

बल्कि अमुक दृष्टिसे वे कर्मका समावेश अपने चार सत्योंमें कर देते हैं' क्योंकि जिस कर्मकी संकलोंमेंसे मनुष्यको मुक्त होना है उस कर्मका जो अर्थ दूसरोंने किया है उसके और तृष्णा-संसार तृष्णा अथवा जीवन तृष्णाके (जिसे हम जीवन क्षुधा कहते हैं) अर्थके बीचमें वे समानता लाते हैं। अनित्यता और संसार जीवनको जिसभाव मे बुद्ध मानते हैं उस भावमें दूसरे अनेक विचारक दुःखको मानते हैं। बुद्ध और महावीर ये दोनों मुक्तिको दूसरे स्वरूपमें 'सर्व दुःखोंका अन्त' मानते हैं। साधारण साधु जीवनके सिद्धान्त और तत्वोंकी इस संपूर्ण समता और एकीकरणमेंसे हमें तो सिर्फ इतना ही चुन निकालना है कि कौनसे विचारकने किस भावनाको मध्य बिन्दुमें रक्खी है और उस मध्यबिन्दुके चारों ओरके वर्तुल में कौनसी कौनसी भावना किस किस जगह रक्खी गई है। बुद्धने अनित्यता या कर्मको नहीं किन्तु दुःखको मध्यबिन्दु रक्खा है। इस प्रकार उन्होंने अपनी विचार मालामें दुःखोंको ही मेरुस्थान क्यों दिया? क्या इस लिये कि उन्हें दुःख सहना पड़ा था? नहीं नहीं इस लिये बिलकुल नहीं' अपने दुःखसे नहीं परन्तु संसारके दुःखसे वे कांप उठे थे। क्योंकि यह दुःख उन्होंने अपनी आंखों देखा था और बुद्धिद्वारा समझनेका प्रयत्न किया

था इतना ही नहीं वल्कि हृदयसे स्वयं उसका अनुभव भी किया था। क्योंकि उनकी आत्मामें सहानुभूति पैदा हुई थी। अवलोकन करते करते ये साधु पुरुष अनित्यता के विषयमें दुःख देखने लगे और भारतीय पद्धतिसे सार खींचकर इसमें तल्लीन हुए उस महापुरुषने महावीरके समान कर्मके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। परन्तु सबके दुःखमें सहानुभूति होनी चाहिये इस प्रकारकी लग्नवाले इस साधुने संसार दुःखको सबसे अग्रस्थानमें रक्खा है।

इस प्रकार भारतके साधुओं एवं विचारकोंमें बुद्ध अग्रस्थानमें दृष्टि गोचर होते हैं। ये एकले ही उपयुक्त बुद्धिके साथ शुद्ध अन्तःकरणको साधते हैं। सांसारिक चाबुक–हंटरको मात्र ज्ञानहीके लिये नहीं किन्तु दयाके कारण हाथमें उठाते हैं। उनकी इच्छा मात्र उपदेश ही देनेकी नहीं परन्तु ऐसा करके रास्ता निकाल देने और उद्धार करनेकी है। वैद्य सबका रोग मिटानेके लिये निकलता है उसी प्रकार सहानुभूतिके कारण जगतमें दुःखोंको दूर करनेके लिये वे निकल पड़ते हैं। और इन प्रयत्नोंमें मनुष्य जातिके परित्राता स्वरूपमें हमारे सामने वे सबसे आगे दृष्टि गोचर होते हैं।

सिद्धि और निर्वाण

बुद्ध और उनके समय पर दृष्टिपात करनेसे उन महा पुरुषोंके समस्त व्यक्तित्वमेंसे दूसरी अनेक वस्तुओं के उपरान्त अन्तिम वस्तुओंके सम्बन्धमें उनका मुख्य सिद्धान्त जिसे हम E Dchatodogy में (मृत्यु वगैरह अन्तिम वस्तुओं पर विचार करनेवाले दर्शनमें) रख सकते हैं इसके विषयका सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है। इस सम्बन्धके कारण यहाँपर हम इसी विषयमें विचार करेंगे' क्योंकि इस सिद्धान्तसे आगे बढ़कर विचार करनेपर भी हमने इसे पीछे रक्खा था-। यह विचार निर्वाण और हमारी समझ मुजब इसके अर्थ सम्बन्धी है।

परन्तु अब हमें फिर महावीरकी ओर झुकना चाहिये और वे मोक्षका अथवा सिद्धिका अन्तिम उद्देश क्या मानते हैं यह पूछना चाहिये। महावीर अलौकिक महा-पुरुष थे। उनकेही जैसा दूसरा पुरुष नहीं हुआ। उनके विचारोंकी प्रबलताके सम्बन्धमें, उनकी तपश्चर्याके बारे में, साधु जीवनमें उनके दुःख सहन करनेके विषयमें, उनके प्रबल पुरुषार्थके सम्बन्धमें एवं उनकी मानव जातिसे दूर रहनेकी वृत्तिके विषयमें तो हम पहलेही कह गये हैं। बल्कि चलते चलते हम यह भी देख गये हैं कि मनुष्य,

को संसारके बन्धनमें बाँधनेवाले कर्मपर उन्होंने अपना खास सिद्धान्त रचा है। साधारण दृष्ट्या तो वे हमें अभी तक तपस्वियोंके आदर्श रूप ही देख पड़े हैं, परन्तु वास्तविक रीतिसे इससे भी उपरान्त दूसरा उनमें बहुत कुछ अधिक था। वे महान् विचारक थे, विचारकोंमें वे अग्रेसर दर्शनकार थे, उनके समयकी समस्त विद्याओंमें वे पारङ्गत थे। अपने तपके बलसे उन्होंने उन विद्याओं को रचनात्मक स्वरूप देकर पूर्ण बनाई थीं और प्रबल सिद्धान्त तत्वमें व्यवस्थित रूपसे संकलित की थीं। उन्होंने हमें तत्वविद्या Ontobogy दी है और उसमें समस्त तत्व पाँच द्रव्योंमें (धर्मास्तिकाय-श्रेष्ठ पुण्य— Dadgute अधर्मास्तिकाय-खराब पाप, Das Bose आकाशास्तिकाय-आकाश जीवास्तिकाय-जीव और पुद्गलास्तिकाय-ज़ड़द्रव्य) संकलित कर दिये हैं। इसके बाद विश्वविद्या (Kapmalagv) देते हैं। उनके मतानुसार समस्त विश्व बीस मंजिलमें समाया हुआ है, जिसमें सबसे नीचे भयंकर नरक है, उसके ऊपरी भागमें अनेक नरक हैं। उनके ऊपर हमारा जगत् आता है। इसके ऊपर नक्षत्र ताराओंसे भरा हुआ प्रदेश आता है और उसके बारह विभाग किये हुए हैं। तथा इतने ही वर्गमें विभाजित होकर देवलोक भी इसी प्रदेशमें बसता है। इसके जीवविद्या

(Biology) इसमें समस्त जीवों-दृश्यजीवों एवं अदृश्य जीवों का (जिसमें नरक वासियों तथा भूत प्रेत और देवलोक का भी समावेश होजाता है) चौवीस प्रकारके जीवगण का (इसमें पंचेन्द्रियके उपरान्त चतुरिन्द्रय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय ये मुख्य हैं) समावेश होजाता है। इसके बाद मानस शास्त्र (Psychology) इसमें आत्मा के चैतन्यकी भिन्न भिन्न दशाओंका वर्गीकरण किया हुआ है। संक्षेपमें कहें तो महावीरके समय जितनी विद्याय वर्तमानमें थीं उन सबका उपयोग करके उन्होंने अपनी विचार माला गूँथी है। इसके उपरान्त बहुतसे विषयों में स्पष्टता सूचक और निर्णयात्मक विचार भी उन्हांने प्रगट किये हैं। उदाहरणके तौर पर उनके समयके अमुक बनाओंके सम्बन्धमें, अमुक गरम पानीके झरनेके विषय में और भी ऐसे अनेक विषयोंके सम्बन्धमें उन्होंने उल्लेख किया है। इसमें विद्या और अभिप्रायों एवं अवलोकन और अनुमानका मिश्रण हमारे देखनेमें आता है। परन्तु साधुजीवन और विशेषतः तपस्वी जीवनके लिए इसमें से न्यूनाधिक अंशमें उन्होंने बड़ा दर्शन शास्त्र घड़ निकाला है। महावीरने सच्ची वस्तुस्थिति शोध निकाल ने के सम्बन्धमें अनिश्चित तथापि व्यापक प्रमाण दिये हैं। उदाहरण लें तो परिघ और-व्यासके बीचके सम्बन्ध

को दिखलाने वाले अंकका निश्चित निर्णय करना बड़ा कठिन है। परन्तु महावीरने वह भी दिया है और लगभग कह सकते हैं कि इसका उन्होंने स्वयं विधान किया है और वह इस प्रकार है, परिघ—व्यास+१० का अंक व मूल। हममें प्रचलित यह अंक $3\frac{1}{7}$ है और यथार्थ अंकसे यह जितने फर्कवाला है लगभग उतने ही फर्क-वाला महावीरका अंक है। परन्तु यह बहुत गहरे विचार का परिणाम है। इसमें बहुतसी कल्पनायें करनी पड़ी होंगी। बल्कि यह रचनात्मक विचारकके लिये शोभास्पद ही है। इससे हम यह भी मान सकते हैं कि महावीरने स्वयं परिघ व्यास V, 10 यह समीकरण शोध निकाला हो। चाहे जो हो परन्तु हमें तो यह समीकरण महावीर ने ही दिया है और परिघके अनेक हिसाब इस समीकरण से यथार्थ मिलते हैं, यह देखकर उन्हे कितना आनन्द हुआ होगा इसका हम स्वयं अनुभव कर सकते हैं।

इस प्रकार महावीर केवल साधु या तपस्वी ही न थे किन्तु साथही वे प्रकृतिके अभ्यासी भी थे। उन्हें देखकर ग्रीकके प्राचीन अभ्यासी पिथागोरस तक याद आते हैं। साधारणतया उन्होंने विद्वत्तापूर्ण निर्णय करके समस्त वस्तु स्थितिको अपने कालकी साधु भावना ओंके साथ जोड़ा है। अथवा उन्होंने इन धार्मिक भाव-

नाओंकी दृष्टिके नीचे इस वस्तु स्थितिको लाकर अर्ध धार्मिक, अर्ध दार्शनिक संप्रदाय योज निकाला है और वस्तु स्थितिसे निर्णय पर आनेवाले अनेक मनुष्यों पर अपने तपवल द्वारा उन्होंने अमुक प्रकारका प्रभाव डाला है इतनाही नहीं बल्कि अनेक कल्पनायें चलानेवाले अनेक पुरुषोंको भी अपनी निर्णयात्मक और व्यवस्थित विचार श्रेणिद्वारा आश्चर्य चकित किया है। अन्य विशेष बातोंका विचार किये विना अब हम यहभी कह सकते हैं कि ये वीर दार्शनिक' विचारोंके विधायक साधु जीवन के चरम उद्देश सिद्धिके याने समस्त संसार बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेके अर्थात् अचिन्त्यनीय शून्यके स्वरूप का कथन करते हैं। उसे विचार पूर्वक संकलित करते हैं। और अपने दर्शन स्वरूपमें उसे व्यवस्थित करते हैं। वास्तविक रीतिसे वे अपनी आध्यात्मिक दृष्टिसे अतिदूर रहे हुए मुक्तात्माओंका प्रदेश याने वीस प्रदेशवाला संसार स्वरूप इस जगत्के ऊपरका एवं देवोंके बारह स्वर्गोंके ऊपरका प्रदेश योजित करते हैं। अन्तिम श्रेणीकी आत्मायें संसारके कार्योंसे' पुरुषार्थ द्वारा और भाररूप कर्मसे परिपूर्ण मुक्त हुए बाद उस स्थानमें चढ़ती हैं। मुक्तात्माओंका यह प्रदेश अत्यन्त हलका और सुफेद है। यहाँ पर समस्त कर्मभार जिसे हम संसारभार

या पाप भार कह सकते हैं उतर जाता है और उसके साथही आत्माको कर्ममें बाँधनेवाली तमाम अशुद्धियां भी धुल जाती हैं। मैंने पहले जिस ग्रन्थमेंसे महावीर के तपका वर्गीकरण उधृत किया है उसी ग्रन्थमें मुक्तात्माओंके प्रदेशका वर्णन भी आता है। उस प्रदेशके जो बारह नाम दिये हैं वे यहाँ पर लिखता हूँ।

ईसो (संस्कृतमें इषत्) ईसी पब्भारा (सं-ईषत प्रागभारा) तणू (सं- तनू) तणू तणू (सं-तनू तनू) सिद्धि सिद्धालय, मुक्ति, (सं-मुक्ति) मुत्तालय (स-मुक्तालय) लोयग्ग (सं-लोकाग्र) लोयग्ग थूभिया,(सं-लोकाग्र स्तुपिका) सव्वपाण भूयजीव सत्तसुहा वहा (सं- सर्व प्राण भूत जीव सत्व सुखावहा)

इसप्रकारके नामोवाला समस्त स्वर्गों के ऊपर महावीरके मतानुसार मुक्तात्माओंका प्रदेश आया हुआ है। तमाम स्वर्गोंके ऊपर शान्ति है' वहाँपर आराम है' कल्याणमय भार विहीनता है' परम शुद्धि है।

निर्वाणके सम्बन्धमें जो बुद्धको प्रश्न किये गये और उस वक्त उन्होंने जो उत्तर दिये हैं अब हमें वे भी सुनने चाहियें। लोग उन्हें इस अन्तिम उद्देश पर उपदेश देनेके लिये सदैव प्रार्थना करते और उनके शिष्य एवं शिष्याओंके मनमें भी यह प्रश्न वारम्वार उठता था।

मात्र निर्वाणके ही विषयमें प्रश्न पूछे जाते थे इतनाही न था परन्तु कितने एक मनुष्य यह भी जानना चाहते थे कि बुद्धदेव निर्वाणको कैसे स्वरूपमें मानते हैं। याने आत्मा इन दुःखभरे संसार सम्बन्धोंसे मुक्त हुये बाद रहती है या नहीं? मृत्युके उसपार आत्माका अस्तित्व है या नहीं? निर्वाण अथवा बुद्धके निर्वाण सम्बन्धी ऐसे प्रश्नोंके साथही अन्यभी अन्तिम प्रश्न उपस्थित होते थे। जगत् नित्य है या नहीं? यह सान्त है या अनन्त? आत्मा शरीरसे जुड़ी हुई है या स्वतन्त्र है? अथवा यह जीवन शक्ति है या और कुछ है? इस प्रकारके प्रश्नोंके उत्तर जाननेके लिये लोग आकांक्षा रखते थे। संक्षेपमें जिसे हम आध्यात्मिक आकांक्षा कहते हैं' अर्थात् गहरे विशाल विचार जो अनिश्चित रहनेके कारण विफल होकर चले जायँ उन्हें निश्चित स्वरूप देना चाहिये, इस प्रकार चरम गति के सम्बन्धवाले विचारोंको जाननेकी आकांक्षा थी। यह आध्यात्मिक आकांक्षा जिस तरह सर्व समयमें थी उसी प्रकार बुद्धके समयमें और उनके संघमें भी बहुत प्रबल थी। महावीरके विषयमें हमने देखा कि समर्थ दार्शनिकके रूपमें उन्होंने अपने समयमें उठे हुये प्रश्नोंके सम्बन्धमें ध्यान देकर जो उत्तर परिपूर्णरूपसे दिये हैं, अपना जो दर्शन योजित किया है उसमेंसे सब तरहके प्रश्नोंका निराकरण

मिलजाता है, उसी प्रकार बुद्धके समयमें भी ऐसे मनुष्य थे जो इस तरहका निराकरण प्राप्त करनेकी आकांक्षा रखते थे। पार्श्वनाथने भी जगत्की नित्यता और इस प्रकारके प्रश्नोंका खुलासा किया है और वह हमें जैन शास्त्रोंके पाँचवें अंगमें उपलब्ध होता है। परन्तु बुद्ध तो जुदे प्रकार के-केवल जुदे ही प्रकारके थे। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि उन्होंने इन आध्यात्मिक प्रश्नोंपर विचार ही नहीं किया। परन्तु बात इतनी ही है कि उनके विचार और उनका ध्यान मुख्यतया इस दुःखभरे संसारकी ओर था। उन्हें धार्मिक आचरणकी कीमत थी। सबके हितके लिये आदर्शमय जीवन और आर्य अष्टाङ्गिक मार्गकी ही उन्हें दरकार थी। इस महत्वके और नजरके सामनेके उद्देश पर ध्यान देकर शेष दूरके उद्देशको वे छोड़ देते थे। इस प्रकारके सीमापार विषयक विचारोंको उन्होंने जान बूझकर टाल दिया है। जो विषय समझे न जासकें और जिनके विषयमें स्पष्ट रीतिसे न बोला जा सके उन विषयोंके ज्ञानमें मत्थापच्ची करना यह उन्हें दूना जोखम भरा मालूम दिया था। एक तो उसके द्वारा सच्ची जीवन चर्यामेंसे फिसल जानेका भय' दूसरी विषमता' क्योंकि उस समय भी जुदे जुदे विचारक अपने अपने मतोंके सम्बन्धमें एक दूसरेके साथ-हारजीतकी खैंचा तानीमें पड़े हुए थे।

निर्वाण और अन्तिम विषयोंको जाननेके सम्बन्ध वाले प्रश्नों से बुद्ध दूरही रहते थे यह बात उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली जुदी जुदी कथाओं और भिन्न भिन्न वर्णनोंसे स्पष्ट होती है। एक कथामें कहा है कि एक दफा उनके साधु शिष्य मालुक्या पुत्तने उनसे पूछा था कि आप महत्वके और गहरे प्रश्नोंपर किस लिये चुप रहते हैं ? जगत् शाश्वत है या अशाश्वत? यह सान्त है या अनन्त ? मुक्त हुई आत्मा खास कर बुद्ध मृत्युके बाद रहते हैं या नहीं ? इन प्रश्नोंके उत्तर इस शिष्यको जाननेकी बड़ी आकांक्षा थी। इसका उत्तर बुद्धने इस प्रकार दिया (ओल्डन वर्गके सुन्दर अनुवादसे उधृत)
"मालुक्या पुत्त ! मैंने पूर्वमें तुझे क्या कहा था? मैंने यह कहा था कि आ मालुक्या पुत्त और मेरा शिष्य हो। जगत् शाश्वत है या अशाश्वत, जगत् सान्त है या अनन्त, जीव और शरीर यह एकही वस्तु है या जुदी जुदी वस्तुयें हैं? तथागत मृत्युके बाद जीता है या नहीं जीता? याने अमुक भावनासे रहते हैं अथवा लयको प्राप्त होता है या नहीं होता ? याने उसकी मृत्युके बादकी स्थितिके बारेमें कुछ कहा या जा सकता है या नहीं इन प्रश्नोंका मैं तुझे उत्तर दूँगा ऐसा मैंने तुझसे कहा था ?
"नहीं भगवन् ! ऐसा तो आपने नहीं कहा था"

अथवा जगत् शाश्वत है या अशाश्वत? जगत् सान्त है या अनन्त है, आदि प्रश्नोंका मुझे उत्तर दो और मैं आपका शिष्य बनूँगा, इस प्रकार तूने मुझे कहा था? मालुक्या पुत्तने इस बातके विषयमें भी इन्कार किया। अब बुद्धने कहा—एक मनुष्य जहरीले बाणसे घायल हुआ, उस वक्त उसके मित्रों और सगे सम्बन्धियोंने वैद्य को बुलाया। अब घायल मनुष्य यदि यह कहे कि मुझे तीर मारनेवाला मनुष्य कौन है, वह ब्राह्मण है या क्षत्रिय, वैश्य है या शूद्र, जब तक यह मालूम न हो तब तक मैं अपने घावको हाथ न लगाने दूँगा। अथवा यदि वह यों कहे कि तीर मारने वालेका नाम क्या है? वह किस कुलमें जन्मा है? वह ऊँचा है या नीचा, अथवा मध्यम है? और जिस शस्त्रसे मुझे मारा है वह कैसा है जब तक यह न जान लूँ तबतक मैं अपने घाव को छूने न दूँगा, तो इस बातका परिणाम क्या होगा? वह मनुष्य अपने घावसे मृत्युको प्राप्त होगा।

जगत् अनन्त है या सान्त, तथागत मृत्युके बाद जीता है या नहीं इन प्रश्नोंका उत्तर बुद्धने अपने शिष्यों को क्यों नहीं दिया? यों नहीं दिया कि जीवनकी पवित्रतामें इन विषयोंके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। क्यों कि इस ज्ञानसे किसी प्रकारकी शान्ति या प्रकाश नहीं

मिलता। जिन बातोंसे शान्ति और प्रकाश प्राप्त होता है उन्हें बुद्ध ने अपने शिष्योंको सिखलाया ही है। दुःखका रहस्य, दुःखोत्पादका रहस्य, दुःख निरोधका रहस्य और दुःख निरोध मार्गका रहस्य। इस लिये हे मालुक्या पुत्त! जो मैंने प्रगट नहीं किया है उसे अप्रगट-ही रहने दे और जो मैंने प्रगट किया है उसे प्रगट कर।

बुद्ध देवके इन शब्दोंमें महान् परित्याग, महती शान्ति, महान् विधिभाव, महती एकाग्रता और महती आस्था झलक आती है। अचिंत्य सम्बन्धसे निश्चयात्मक उपदेश देनेका त्याग करना और उस त्यागमें मनुष्यको संतोष करना चाहिये। जाने जा सकें ऐसे विषयोंके सम्बन्धमें और उससे प्राप्त होनेवाली जीवन चर्या जिसे हम सम्यक्त्व कहते हैं इस विषय में हमें विचार करना उचित है। इस जीवन चर्याका यथार्थ पालन करना यही आवश्यक है। इसीसे निर्वाण प्राप्त किया जाता है, इसीसे अन्तिम हितकी साधना होती है। इस प्रकार जीवन चर्याकी सीमामें स्थापित कीगई, उसके साथ शृंखलाबद्ध की हुई और उसीमें प्रवृत्तिको प्राप्त हुई धार्मिकतामें संपूर्ण विश्वास रखना यह बुद्धदेवका धर्म है और यही उनके शिष्योंका धर्म होना चाहिये।

बुद्धके ऐसे व्यवहारके कारण सीमामें गुरु प्रगट

होता है, हमें ये शब्द याद आते हैं। हमारे गुरुने भीत-रसे ही बहुत विचारोंका उहापोह किया था और इसके बाद ही वे सीमामें आये थे, इसमें तो कोई सन्देह नहीं तथापि तपश्चर्यासे वे बड़ी मुस्किलसे बाहर निकल सके थे। जिस सीमा बन्धनको बुद्धने स्पष्ट रीतिसे स्वीकार किया था उसके विषयमें वे स्वयं ही कहते हैं!

मैं फिर भी यहाँपर ओल्डनवर्गके अनुवादसे उधृत करता, हूँ। एक समय तथागत कौशाम्बीमें आकर सिस-पावनमें उतरे थे। तथागतने सिंसपाके थोड़ेसे पत्ते अपने हाथमें लिये और अपने शिष्योंसे पूछा कि "हे शिष्यो! बोलो तो सही कौनसे पत्ते ज्यादह हैं? ये जो मैने अपने हाथमें लिये हुये हैं अथवा जो अभी सिंसपावन पर लगे हुये हैं वे अधिक हैं?

'जो पत्ते तथागतने अपने हाथमें लिये हुए हैं वे थोड़े हैं भगवन्! और जो सिंसपावन पर लगे हुए हैं वे तो इनसे बहुत अधिक हैं। इसी प्रकार हे शिष्यो! मैं जो जानता हूँ और जो मैने उसमेंसे तुम्हें बतलाया है उसकी अपेक्षा बहुत अधिक है। हे शिष्यो! मैंने तुम्हें वह किस लिये नहीं मालूम किया? क्योंकि हे शिष्यो! इससे तुम्हें कुछ भी लाभ नहीं। इससे तुम्हारे जीवनमें पवित्रता नहीं आ सकती' क्योंकि इससे भौतिक त्याग' पापका परित्याग'

अनित्यकी विरति' शान्ति' ज्ञान प्रकाश और निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता, और हे शिष्यो ! मैंने तुम्हें क्या मालूम कराया है ? हे शिष्यो ! दुःख क्या है सो मैंने तुम्हें मालूम किया है' हे शिष्यो ! उत्पाद क्या है सो मैंने तुम्हें बतलाया है' हे शिष्यो ! दुःख निरोध क्या है सो मैंने तुम्हें जताया है' हे शिष्यो ! दुःख निरोध मार्ग क्या है सो मैंने तुम्हें मालूम किया है।

इससे हमने यह देखा कि बुद्धदेवने इन सब विषयोंमें किस प्रकार संकोच रक्खा। अब हमें यह भी देखना चाहिये कि ज्ञेय विषयोंके उपरान्त उन्होंने अन्य किन किन विषयोंपर ध्यान दिया है और उसमें अन्य विचारकोंके साथ वे कहाँ कहाँ मिलते आये हैं एवं उनसे कहाँ कहाँ पर जुदे पड़े हैं। इनके समयमें भारतवर्षमें पारलौकिक विषयोंके सम्बन्धमें अनेक मत मतान्तर प्रचलित थे और वे विषय मुख्यतया ये थे-पुनर्जन्म' स्वर्गलोक' नरकलोक और उसमें रहनेवाली आत्मायें' देवाधिदेव इन्द्र और जगत्पिता ब्रह्मन्' भूतप्रेत' वास्तविक जीवोंके उपरान्त पृथ्वी पर और वातावरणमें रहते हुए लोक कल्पित सर्वप्रकारके अच्छे और बुरे सत्व। बुद्धदेवके समयमें इन समस्त विषयों ने अमुक प्रकारका दृढ स्वरूप धारण कर लिया था। परन्तु ऐसी भी कितनी एक भावनायें उस समयमें प्रचलित

थीं कि जो जीवनको श्रेष्ठ मार्गमें झुकातीं और बुरे मार्गसे दूर रहनेकी प्रेरणा करती थीं, इसी कारण उन्होंने नैतिक स्वरूप धारण किया था। महावीर और उनके समयके अन्य विचारकोंकी तरह बुद्धने भी नैतिक स्वरूप से इन भावनाओंमेंसे अपनी विचार सृष्टि योजित की है। इस प्रकार बुद्धदेवने इन भावनाओंके खासकर निर्वाणके सम्बन्धमें अपने विचारोंको निर्धारित किया है। किन्तु उनपर विवेचन करनेकी दृष्टिसे नहीं परन्तु ग्रहण करनेकी वृत्तिसे या महावीरके समान रचनात्मक वृत्तिसेही नहीं किन्तु मुख्यतया जीवनको सच्चे मार्गमें लावें और उपयोगी हों' अर्थात् नैतिक दृष्टिसे ये विचार निर्धारित किये हैं। निर्वाण सम्बन्धी विचार भी उनकी इस भावनामें उपयोगी हो पड़ते' लोक प्रचलित देवलोकके बदले मुक्त लोक पवित्र नैतिक भावनाको विशेष श्रेष्ठरीतिसे पोषण करते थे। परन्तु इससे केवल स्वतंत्र रीत्या अन्तिम जीवनहेतुके सम्बन्धमें अमुक विचारोंको विकशित करना और आध्यात्मिक प्रकाशरूपमें उन्हें धर्म भावनासे स्वीकारना तथा उनका उपदेश करना यह बुद्धदेवको इष्ट मालूम न दिया। उस वक्तके आध्यात्मिक विचार अमुक भावनाकी अपेक्षा रखते थे' परन्तु उस भावनाको बुद्धदेव स्वीकृत नहीं कर सके, अथवा उस भावनासे उनका मतभेद

था और इससे यहाँ ही उनमे त्रुटि रह गई है। पुनर्जन्म' स्वर्गलोक' नरकलोक वगैरहके उपरान्त उस समय निर्वाणके विषयमें एक ऐसी भी आध्यात्मिक भावना प्रचलित थी कि-आत्मा-जीवात्मा परमात्मामें जाकर मिल जाती है' व्यक्तिगत आत्मा निखिलमें-पवित्र ब्रह्ममें फिर जा मिलती है। यह जो नित्य निखिलमेंसे अमुक समयके लिये उसने व्यक्तिगत स्वरूप धारण किया था वह फिर उसमें मिल कर अनन्त शान्ति और पवित्र विराम प्राप्त करती है। कुछ इस भावसे निर्वाणका स्वीकार करना हमारे बुद्धदेव को अशक्य मालूम हुआ' क्योंकि वेदसे उत्पन्न हुई और उस समय तक परम्परासे चली आती हुई भावनामें अद्वैत वादकी ब्राह्मण भावनामें दूसरे साधुओंके जैसी उन्हें श्रद्धा न थी। उनकी नजरके सामने तो भवका दुःख ऐसे प्रचण्ड रूपमें झलक रहा था' जगत्मे मात्र संसार को ही वे ऐसे दृढ़भावसे देख रहे थे जिससे कि मुक्तात्माओंको फिरसे मिलने योग्य भवके नीचेकी आधारभूत भूमिकाको-सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मको वे देख ही न सके। बुद्धकी धार्मिक नूतनतामें प्राचीन भारतकी भावनाओंके साथ अन्य एक जगह भी मिलाप न होता था। यह नूतनता ब्राह्मण धर्ममेंसे उत्पन्न न हुई थी, इसी कारण इसपर वेदकी आध्यात्मिक भावनामें तरुण प्रजाके काव्यका असर न होसका।

आध्यात्मिक भावमें और तदनुसार निर्वाणकी भावनामें बुद्धकी नूतनता न जुड़ सकी। इस नूतनतासे भारतवर्ष नवीन और साथ ही साथ पुराना बनगया। परिणाममें निर्वाणके सम्बन्धमें जो प्रश्न पूछे जाते थे महावीर तो कुछ नये विचार प्रगट करते थे परन्तु बुद्ध तो चुप ही रहते थे।

समुत्पाद द्वादश निदान माला।

इस प्रकार संसारके दुःखने बल्कि मात्र संसारके दुःखने ही हमारे बुद्धदेवको प्रेरित किया था। इससे उन्होंने तपकी अन्तिम परिसीमा परसे पीछे हटकर साधुजीवन के लिये सुन्दर मध्यम मार्ग शोध निकाला और इस विकाशकी विचार मालामें उन्होंने चार आर्य सत्यका दर्शन योजित किया। इसके अनुसार सर्वदुःखोंका उत्पाद-मूल तृष्णामें-जीवन तृष्णामें देखा, एवं इन सर्वदुःखोंका निरोध उन्होंने आठ प्रकारसे शुद्ध होते हुये जीवनमें माना है। इस कारण शुद्धजीवनकी आवश्यकताके लिये जो भूमिका है वह उन चार आर्यसत्योंपर आठहरी है। हम पहले

ही कह गये हैं कि इस भूमिकाके नीचे इसे आधार देने वाली एक दूसरी भूमिका है, इससेभी विचारमें अति गहरी उस भूमिकाके विषयमें अभी हमें कथन करना बाकी है।

इस भूमिकामें समुत्पाद द्वादश निदान माला है॥ इसमें प्रथम तो तृष्णाको सबसे मूलका उत्पाद माना था। परन्तु वहाँसे पीछे हटते हटते अन्तमें फिर इससे भी गहरी जड़ तक तलाश करते हुए अविद्याही मूल उत्पादक रूपमेंउपलब्ध हुई। अब हमें तृष्णाके साथ सम्बन्ध रखनेवाली वासना के क्षेत्र से आगे बढ़कर अविद्याके साथ सम्बन्ध रखनेवाली भावनाओंके क्षेत्रमें आना चाहिये। सब जीवजन्तुओंके मूलमें वासना नहीं परन्तु अविद्या अर्थात् मिथ्या भावना है और इसीमेंसे वासना उत्पन्न होती है। वास्तविक रीति से तृष्णा मुख्य है या अविद्या मुख्य है इसपर आकर प्रश्न नहीं ठहरता। बुद्धदेवकी विचारमाला इस प्रकार है—

"अन्धजीवन वासना-तृष्णा जीवनको संसारमें बाँध रखती है। तब तृष्णाके परिणामका-संसारका नाश करने की ओर हमें दृष्टि रखनी चाहिये' जिससे इस ज्ञानकी बोधिनी भूमिकापर रहकर हम जीवन वासनासे अपना रक्षण कर सकें एवं फल देते हुए असत्कार्योंसे दूर रहकर शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार दृष्टि रखनेसे जागृति' ज्ञान' बोधि प्राप्त

करनेके कारण अन्धजीवन लालसाका' उलझन भरे जीवन मोहका निरोध होता है। इससे समुत्पाद द्वादश निदान मालामें इस जीवन लालसाके-जीवनमोहके मूल में सबसे पहली संकल यह अविद्या है। हम स्वयं भी इस भावको अन्ध अथवा उलझनपूर्ण इस प्रकारका विशेषण दे सकते हैं' क्योंकि जिसे हम जीवन लालसाकी अन्धता और जीवन मोहकी उलझन मानते हैं उसे बुद्धदेवने इसी प्रकार माना है। (हमें यह बात जाननी चाहिये कि भारतवर्ष की भाषाओंमें विशेष्यको विशेषण द्वारा भावयुक्त बनाया जाता है। संस्कृत भाषामें-ग्रामाणां अपरं' अश्वानां रत्नम्' ग्रन्थानां वैविध्यं' बोला जाता है। उस वक्त हम उस २ स्थान पर—Einand eres lark (दूसरा गांव) Einprach toes Proid (भव्यघोड़ा) VERS Chiedene bucler (विविध ग्रन्थ ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार जब तृष्णाके मूल कारणमें अविद्या रक्खी गई तब हम संक्षेपमें उसे अज्ञानमय तृष्णा याने अन्धजीवन लालसा' उलझनपूर्ण जीवनमोह कह सकते हैं।) परन्तु बुद्धदेवने अविद्याकी भावनाको कोई विशेषण नहीं दिया' उसे विशेष्यरूपमें एकली ही रक्खा है और उत्पाद मालाके मूलमें उपयुक्त किया है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि उन्हें इससे कुछ दूसरा गहरा कथन करना है। बुद्धदेवने अविद्याको अमुक विशेष भावमें विधि

भावसे ली है और वास्तविक दृष्टिकेभावसे मानी याने अविद्याको उन्होंने विद्याके विरोध भावमें मानी है। क्यों कि उनके मतसे तो विद्या भी उतनी ही असत्काय दृष्टि है। इस दृष्टिसे सब मिथ्या है' सब कल्पित है' अविद्या से ही सब स्वरूपमय भाषित होता है। बुद्धके इस समस्त विश्वरूपको हम मिथ्यात्वका नाम दे सकते हैं। सर्ववस्तु-ओंके मिथ्यात्वकी प्रतीतिसे ही वस्तुमें सत्यका आरो-पण किया जाता है' क्योंकि वह दुःख जनक और अनि-त्य है। जिस उलझन भरी प्राकृत भावनासे जगतको सत्य रूप मान लिया जाता है और जिसे बुद्धदेव' सचमुच ही अविद्याके नामसे पहचानते हैं उसकी विरुद्ध दिशामें ये महापुरुष इस मिथ्यात्वको रखते हैं इतना ही नहीं बल्कि (हम प्रथम देख चुके उस प्रकार उनकी तत्वविद्यामें महा वीर बतलाते हैं उस तरह) जो विचारक जगत्के कारण रूपमें मूल तत्वोंको याने अस्तिकायको (सत्कायको) स्वी कारते हैं उन विचारकोंको-प्रत्यक्ष वादियोंको भी अपनी मिथ्यात्वकी भावनाके कारण दार्शनिकोंमेंसे निकाल दिया है। जगत्की सत्ताके सामने और समस्त प्रकारके रचना-त्मक दर्शनोंके सामने, इस तरह विवेचन करनेसे बुद्धदेवको हमें विवेचक दर्शनकार मानना पड़ता है। ब्राह्मण दर्शन कारोंने जीवनकी अपूर्णता होनेपर भी अपने समस्त दर्श

नोंकी नीव नित्यताके ऊपर रची है। परन्तु बुद्धदेवने संसार दुःखकी अपनी अलौकिक भावनाका नित्यताके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं जोड़ा और उस भावनाको स्वतः सिद्ध रक्खी है। इस प्रकार वे अपने सामने मात्र दुःखपूर्ण जीवनको ही देखते हैं। इस जीवनको उन्होंने मिथ्याछाया या स्वप्न स्वरूप माना है और इससे छूटकर संभाव्यकी ओर गमन करना इष्ट माना है। इस प्रकार के अपने उपदेशों एवं संभाषणोंसे उन्होंने लोगोंको जगत् बन्धनसे निकाल कर निर्वाणकी तरफ ले जानेका प्रयत्न किया है।

इस भावनाके अनुसार समुत्पाद द्वादश निदान मालाको आदि, मध्य और अन्त नियोजित किया जा सकता है, यह बात अब अच्छी तरह समझी जा सकती है। क्योंकि मालामें संकलकी पहली कड़ी अविद्या है' आठवीं तृष्णा है और ग्यारहवीं तथा बारहवींसे दुःख उत्पन्न होता है। पहलीमें चार आर्य सत्योंका समावेश है। हम संपूर्ण मालाको आदि, मध्य और अन्तमें इस प्रकार समेट सकते हैं। अविद्यासे तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णासे दुःख उत्पन्न होता है। साधारणतया यह वस्तुस्थिति इस प्रकार रक्खी गई है। वास्तविकता परके भ्रमपूर्ण विश्वासके लिए मनुष्य उसकी वासनासे आकर्षित होता है।

परन्तु इससे उसे कुछ नित्यवस्तु प्राप्त नहीं होती' इस कारण संसार वासनाके परिणाममें भ्रमण, क्रन्दन, व्याधि शोक, दरिद्रता और मृत्युवाला मिथ्या संसार बन्धन उपस्थित होता है ।

उत्पादमालाकी बीचकी कड़ियोंपर हमें विचार करना चाहिये । आदि और मध्यके बीच६कड़ियाँ हैं तथा मध्य और अन्तके बीच दो कड़ियां हैं । प्रथमकी ६कड़ियाँ इस प्रकार हैं ।

१ संस्कार' २ विज्ञान' ३ नाम और रूप, ४ षड़ायतन—छह इन्द्रिय प्रदेश (भारत वासी पाँच इन्द्रियोंमें मनको मिलाकर छह मानते हैं)५स्पर्श, ६वेदना,

प्रत्येक कड़ी अपनी पिछली कड़ीकेआधारसे रही हुई है और इससे पहली तथा आठवीं कड़ी इन दोनोंका साथ ही विचार करनेसे निम्न श्रेणीकी योजना की जा सकती है

अविद्यामेंसे संस्कारकी उत्पत्ति होती है' संस्कारसे विज्ञान प्राप्त होता है, विज्ञानसे नाम और रूपकी उत्पत्ति होती है । नाम और रूपसे छह इन्द्रिय प्रदेशका जन्म होता है और इन्द्रिय प्रदेशसे स्पर्शकी उत्पत्ति होती है, स्पर्शसे वेदना और वेदनासे तृष्णाका जन्म होता है ।'

अविद्यासे तृष्णा तक विस्तृत मानवभव प्रदेशके इससे संख्या बद्ध उपप्रदेश बनते हैं और इस समस्त

क्रमको हमें शारीरिक एवं मानसिक भावसे समझना चाहिये। अब हमें बुद्धदेवके विचार क्रमको युरोपियन पद्धतिसे विचारना है।

अज्ञान जनित संसार बन्धनकी भूमिकापर व्यक्तिगत जीवनके प्रारम्भमें प्रथम तो उसके अनुकूल प्रवृत्ति रची जाती है, फिर वह संस्कार उसे खींचकर सर्व साधारण विज्ञानके अर्थात् एकता और भेदभाव समझनेकी सारी शक्तिके प्रदेशमें लेजाता है। इसमें मानसिक गति होती है और इसे हम मूल चेतना कह सकते हैं। इस शक्तिमेंसे भी नाम और रूपके भेदकी जागृति होती है एवं इससे मनुष्य अपने आपको सत्यरूपमें और बाह्य जगत्को नामरूपसे पहचानता है। इस सत्य और नाम के बीचके भेदज्ञानका विस्तार होते हुए उसमें छह इन्द्रिय प्रदेश मिलाये हैं' अर्थात् अपने व्यक्तित्व और बाह्य जगत्के बीच, दृष्टि और दृश्यके बीच, श्रवण और श्राव्य के बीच, इसी तरहके अन्यभी इन्द्रिय जन्य अनुरूप आते हैं। इस अनुरूपसे स्पर्श याने बाह्य जगत् द्वारा इन्द्रिय जन्य असर होता है और इस असरके द्वारा विषयकी वेदनाका अनुभव होता है। उस अनुभवसे पुनरावृत्ति और स्थायित्वकी वासना या जीवन तृष्णा जागृत होती है।

जीवन तृष्णामें घसीट लेजानेवाली मानस-शारीरिक

मालाकी इस प्रकार पृथक् पृथक् कड़ियें स्पष्ट रीत्या हमारी समझमें नहीं आ सकतीं। बुद्धने भी अपने विचार मारी समझमें आसकें ऐसी भावनाओंके साथ कितनी एक इस तरहकी अनिश्चित भावनायें गूँथी हैं कि जिन्हें गूँथनेकी हिन्दू दर्शन शास्त्रोंमें आवश्यकता पड़ती है और जिनमें नाम एवं रूपसे योजित किये हुए भावनाद्वन्द्वके चिन्ह अतिप्राचीन कालसेही दृष्टिगोचरहोते हैं

समुत्पाद द्वादश निदान मालाका दूसरा भाग अभी बाकी है और उसकी चार कड़ियाँ इस अनुक्रमसे हैं।

९ उपादान, १० भव, ११ जाति, १२ जरामरण-व्याधि वेदना, दुःख शोक और निराशा (शोक परिवेदना, दुःख, दुर्मनस्त्व अथवा क्लेश) भावार्थ इस प्रकार हैकि तृष्णासे(९) बन्धन आता है, याने तृष्णाके विषयमें अथवा हेतुमें बन्धन आता है। यह बन्धन जीवको अवश्य संसारमें बाँध रखता है और इससे जीवको नया भव लेना पड़ता है। नये भवके कारण नया जन्म लेना पड़ता है और उसके साथ मानव जन्म के दूसरे दुःख, जरा और मृत्यु, व्याधि और वेदना आदि आते ही हैं।

इस प्रकार हमने समुत्पाद द्वादश निदान मालाको काम चलाऊ स्पष्ट की है। बुद्धदेवको भी यह मालूम हुआ था कि यह ब्योरेवार क्रम बहुतसे लोगोंको उपदेशमें

अनुकूल न पड़ेगा। इसी कारण उन्होंने इसे लघु स्वरूप चार आर्य सत्योंमें संकलित कर दिया है और इसी लिये मुख्यतया दुःखसे छुड़ाने वाले आर्य अष्टांगिक मार्ग पर दृष्टि रक्खी है। इससे बुद्ध देवके उपदेशमें ये चार आर्य सत्य बल्कि मात्र येही महत्वके और विशेष माने गये हैं। हम तो इस समुत्पाद द्वादश निदान मालाके विषयमें कुछ गहरे उतरे हैं' क्योंकि महावीरकी अहिंसा और बुद्धकी मित्र भावना परसे हम समस्त उपदेश वस्तु देखनी चाहते थे और वह उपदेश वस्तु अहिंसा एवं मित्र भावनाके आधारसे नियोजित की गई थी। एक बात यह भी है कि इन दोनों महापुरुषोंके बीचका जो भेद हमने प्रारम्भमें देखा था वह इससे विशेष स्पष्ट होता है। ये अपने दार्शनिक तत्त्वोंमें भी एक दूसरेसे संपूर्ण रीतिसे भिन्न हैं। एक रचनात्मक हैं और दूसरे विवेचक हैं' एक अपने जगत् स्वरूपको विस्तृत करने और मुक्त भावमें चित्रित करनेका प्रयत्न करते हैं और दूसरे उसे संकुचित करने और निश्चित भावसे बिचारने का प्रयत्न करते हैं

परन्तु हमें हमारे धर्म संस्थापकोंकी दार्शनिक भावनाके इस भेदको बतला कर ही यह प्रकरण समाप्त नहीं करना चाहिये। अथवा इन दोनों महापुरुषोंमें अन्य भी मिलनेवाले विशेष भेदको पुनः तलाश नहीं करना

चाहिये । अबतो हमें यहाँ पर इस बातका विचार करना चाहिये कि ये दोनों व्यक्ति कहाँ पर एक हैं' कौनसा मत इन दोनोंका समान है । बुद्ध और महावीर ये दोनों क्राईष्ट पूर्व उत्कृष्ट युगके मानसिक और आध्यात्मिक नेता थे । इन दोनोंहीने साधु संघकी स्थापना की है। अपने अपने गुरुओंके उपदेशों और उनकी अन्य जीवन चर्याके आधारसे इन दोनों साधुसंघोंने धार्मिक साहित्यकी विशाल रचना की है। वह संघ और साहित्य आज पर्यन्त चला आ रहा है और अभी तकभी वह पुरुषार्थ-आचरणकी शक्ति धारण करता है । उस साहित्यपरसे ही आज हम इन दोनों महापुरुषोंको स्पष्ट रूपसे जाननेके लिए भाग्यशाली हुए हैं । हमें आनन्द होता है कि वेदमें ही नहीं किन्तु प्राचीन इन्डोजर्मन धर्ममें जड़ा हुआ प्राचीन भावना विकाश इन दोनों महापुरुषोंने भिन्न भिन्न दिशाओंमें संपूर्ण रूपसे विकशित किया है । हम तो अभी तक भी समस्त मनुष्यत्वके टुकड़े करके कुटम्बों और जातियों में ही कैद रहना जानते हैं एवं इसीके विकाशमें समस्त विकाशबिन्दु देखते हैं । इस कारण हमारे धर्म संस्थापकने हमें जो धर्म सिखलाया था उसका महत्व उनके असंख्य शिष्योंमें ही रहा है इतना ही नहीं किन्तु प्राचीन ईण्डोजर्मन और प्राचीन

एशियन आत्माके प्रकाश रूपसे भी इसका महत्व हमारे ही अन्दर रहा है और रहता है। जो प्रकाश हमें भारत मुख्यतया वेद-ब्राह्मण धर्म, बुद्ध धर्म, और जैन धर्म इन तीनों धर्मोंने दिया है वह ग्रीक फिलीस्तीन (पेलेस्टाइन) की प्राचीनताके प्रकाशको' होमरकी अफलातून (प्लेटो) की या अरस्तू (एरिस्टोटल)की मूसा (मोझीज) की' या ईसा (क्राईष्ट) की भावनाओंके प्रकाशको कदापि आच्छादित न करेगा यह वात सत्य है तथापि इन नये देशोंपर वह प्रकाश अवश्य डालता है। नये रंगों की वृद्धि करता है' सर्व साधारण प्रकाशको विशेष उज्वल करता है और इसी प्रकाशकी हमारी आत्माको आवश्यकता है। प्राचीन एशियन, युरोपियन प्रकाशकोंके उपरान्त दूर प्रदेशके प्रकाशकोंको भी संस्कृति जगत्के इस स्मृति ग्रन्थमें स्थान तो है ही, क्योंकि हमारे प्रकाशकने कहा है कि 'मेरे पिताके घरमें वहुतसे कमरे हैं।

बुद्ध और प्रलोभक

अब हमें अपने धार्मिक इतिहासकी दूसरी समानता देखनी चाहिये। उसमें बुद्ध और क्राइष्ट दोनोंके पास प्रलोभक आता है, इस सम्बन्धमें वर्णन है। इस विषयकी विद्वत्तापूर्ण आलोचना हुई है और बुद्धके जीवनकी हकीकत देनेवाला तथा कुछ अंशमें काल्पनिक भावसे झोल चढ़ानेवाला इस प्रलोभकका अनेक प्रकारका इतिहास बौद्ध साहित्यमेंसे एकत्रित किया है और उसका अनुवाद किया है। यह आलोचना एर्न्स्त विंदिशने (Frn st yuindish) की है एवं मार और बुद्ध इस नामसे Abhandl ungen Der Sachsischen Gosellschaft der wvisseans chaften में (सेकसेनीके विज्ञान मंडलकी ग्रन्थमाला में) प्रगटहुई है। तथा 'हेरमान ओल्डन बर्ग ने Hermaun Oldenberg बुद्ध नामक अपने प्रख्यात ग्रन्थमें (दो वर्षमें जिसकी सात आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं) ही नहीं किन्तु "बुद्ध धर्ममें सैतान" नामक निबन्धमें (Ausindien and Iran) भी इस सम्बन्ध कीहकीकत ढूँढ निकाली है। गार्बेने (garbe) इस सम्बन्धमें अपने ग्रन्थमें पृष्ट ५०-५६ पर लिखी है।

प्रकारकी समानताके विषयमें बिचार करना चाहिये। अब यहाँ पर हम इसी तरहकी दो समानतायें पेश करेंगे और वे भारतीय क्रिश्चीयन समानतायें हैं। उसमेंकी एक तो महावीर और क्राईष्टके बीचके विचार सम्बन्धी है और दूसरी बुद्ध तथा क्राईष्टके विचार सम्बन्धी है।

महावीरके धर्मशास्त्रों याने जैन शास्त्रोंमें 'नाया धम्मकहाओ' नामक एक ग्रन्थ है' स्पष्ट रूपसे अमुक शब्दोंका अनुसरण न करें परन्तु उनमेंके भावका अनुसरण करें तो भिन्न२ प्रसंगोंमें महावीरके उच्चारण किये हुए वचन इस ग्रन्थमें हैं और उन वचनोंमें अन्य उपदेशके उपरान्त अमुक दृष्टान्त भी मिलते हैं। इस ग्रन्थ के सातवें अध्ययनमें इस प्रकार रोहिणीका दृष्टान्त उपलब्ध होता है। रोहिणीका अर्थ वर्धनशील होता है। हमारे नये करार (न्यू टेस्टोमेन्ट) में दिये हुए पौण्ड देने वाले दृष्टान्तसे यह दृष्टान्त मिलता हुआ है। इस दृष्टान्तकी कथा कुछ विस्तारसे हुई है, परन्तु यहाँ पर उसका विलहेल्म हितेमान जो एक दफा मेरा विद्यार्थी था और जो आज रण संग्राममें सो रहा है, के gnataer alalungen ज्ञात कथाओं (स्त्रास्बुर्ग–१९०७) नामक ग्रन्थ मेंसे संक्षिप्त सार उधृत करता हूँ।

(१) महावीरका सूपूर्द किये हुये दानोंका दृष्टान्त.

इस तरह है—राजा श्रेणिकके समयमें राजगृही नगरमें धन नामक एक व्यापारी रहता था। उसके चार पुत्रवधुवें थीं। एक दिन उस सेठके मनमें अपनी पुत्रवधुओंका आचार विचार और विशेषतः घरको सुरक्षित रखने एवं घर गृहस्थी चलानेकी सावधानी और बुद्धिमत्ताकी परीक्षा करनेका विचार पैदा हुआ। इस लिये उस सेठने उन प्रत्येक बहुओंको धानके पाँच पाँच दाने दिये और कहा कि जबतक मैं इन्हें वापिस न माँगूँ तबतक अपने पास सँभालकर रखना। उनमें जो सबसे बड़ी उज्भिका (उड़ाऊ) थी उसने तो यह बात ध्यानमें भी न ली। उसने विचारा कि श्वसुरजीके कोठारमें बहुतसे धान भरे हैं तब फिर इन पाँच दानोंको सँभाल रखनेकी मैं किस लिये चिन्ता रक्खूँ! जब वे मुझसे ये दाने माँगेंगे तब कहींसे भी उठाकर पाँच दाने दे दूँगी. यह विचारकर उसने वे पाँचों दाने फेंक दिये। दूसरी पुत्रवधु जो भोगवती (विलास करनेवाली) थी उसने भी पूर्वोक्त विचारसे ही अपने दाने खा लिये। तीसरी जो रक्षिका (रखनेवाली) थी उसने उन पाँचों दानोंको एक चीथड़ेमें गाँठ बाँधकर अपने जेवरके डब्बेमें सुरक्षित रख छोड़े। परन्तु चौथी जो रोहिणी (बढ़ानेवाली) थी उसने अपने दाने खेतमें बुवा दिये और फसल आनेपर कटवाये। उनसे पैदा होनेवाले

दाने फिर खेतमें बुवा दिये और फिर कटवाये। इस प्रकार करते हुए पाँचवर्षमें उन पाँचों दानोंके धान्यसे कोठार भर गया।

अब धनसेठने अपनी पुत्रवधुओंके पाससे अपने दिए हुए दाने वापिस माँगे। उझिझकाने सेठको दूसरे दाने लाकर दे दिये। परन्तु पूछनेपर बात मालूम होगई और उसने भी कबूलकर लिया कि वे दिए हुए मूल दाने उसने उसी समय फेंक दिये थे और ये दूसरे हैं। इससे उझिझकाको घरकी राख-कचरा कूड़ा साफ करनेकी सजा दी गई। सारांश-जो मनुष्य साधु या साध्वी बनकर पंच महाव्रत पालन नहीं करता परन्तु वेपरवाहीसे उन्हें फेंक देता है वह इस उझिझकाके समान उसके जैसीही सजापाता है।

भोगवतीका आचरण भी प्रगट होगया था' इससे उसे भी उसी प्रकारकी सजा मिली' परन्तु उसकी जेठानीसे कुछ कम। क्योंकि उसने श्वसुरजीकी आज्ञाकी अवज्ञाके कारण नहीं किन्तु विलासिता और बेदरकारीके कारण वैसा किया था। इसलिये उसे शिक्षासे चक्की पीसने और रसोई करनेका काम सौंपा गया था। सारांश-जो साधु साध्वी पाँच महाव्रतोंके प्रति बेदरकारी रखते हैं उन्हें भोगवतीके समान सजा भोगनी पड़ती है।

रक्षिकाने अपने श्वसुरकी आज्ञा शब्दोंके अनुसार ही

पाली थी' इसलिये उसे बदलेमें घरकी साधारण देखरेख का काम सौंपा गया। सारांश-जो साधु साध्वी पंच महा व्रतोंका शब्दोंके अनुसार ही पालन करता है उसकी इस रक्षिका के समान साधु और पवित्र श्रावक स्तुति करते हैं और उसे सन्मान देते हैं।

अपना हिसाब देनेमें रोहिणी स्वाभाविक रीत्या ही दक्षा और चतुरा मालूम दी। उसे अपने दाने बढ़ानेकी आकांक्षा हुई थी' इससे उसने धीरे धीरे अपना भण्डार भर लिया। उसका आचरण मालूम होने पर धनसेठने उस पुत्रवधुको अपने घरके एवं कुटुम्बके व्यवहार सम्ब-न्धी कुल सत्ता सौंप दी और समस्त विषयोंमें उसपर संपू-र्ण विश्वास रक्खा। सारांश-जो साधु साध्वी पाँच महा व्रत पालकर ही संतोष नहीं मानता, परन्तु उन्हें विस्तृत करके पालता है उसे रोहिणीके समान इस भवमें धर्मा-त्मा लोग पूजते हैं और फिर वह मुक्तिको प्राप्त करता है।

पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि यह दृष्टान्त बहुत सावधानीसे नियोजित किया गया है और इसमें स्त्रियोंके नाम भी भावसूचक रक्खे हैं। महावीर और बुद्ध ये दोनों ही विचार प्रदेशमें अच्छी तरह सुशिक्षित थे' इसलिये उ-नके दिये हुये दृष्टान्त और अन्य कथानक भी अच्छीतर-ह विस्तृत और पद्धति पूर्वक हैं। उन दोनों उपदेशकों

और उसमें भी महावीरकी अपेक्षा बुद्धने विशेप प्राचीन भारतकी शिक्षा प्रणालीका अनुसरण किया है। वे बारम्बार आते हुए उसी प्रसंग अथवा विचारका उन्हीं परिमित शब्दोंमें वर्णन करते हैं और इससे इस प्रकारके पुनरावर्तनके कारण बहुतसी दफा हमें उक्तान भी आती है, क्योंकि हमें तो विविधता विशेप पसंद है। परन्तु इस प्रकारके पुनरावर्तनसे भारतीय श्रोताओंका, उपदेशके विचार ग्रहण करलेने, उन्हें दृढ़कर देने और स्मरण में रखनेका कार्य बहुत सुगम एवं सफल हो जाता है। हम देखते हैं कि बाइबलके नये करारमें आनेवाली सुवार्ताओंके' ऐसे ही प्रसंग शिथिल और अपूर्ण हैं तथा उनकी अपेक्षा हमारी इस कथाके प्रसंग यथार्थ निश्चित भावसे और पद्धति पूर्वक वर्णित करके इसे दृष्टान्तका रूपदेनेमें विशेप कुशलता बतलाई है। भारतीय पद्धति और प्रकटीकरणके साथ समानता करते हुये ईसा (क्राईष्ट) में इस प्रकारका विकाश बहुत अल्प मालूम होता है।

माथीकी सुवार्तामें (२५ : १४ से) एक मनुष्यका दृष्टान्त आता है। परदेश जाते समय वह अपने तीन नौकरोंमेंसे एकको पाँच टेलंट (पौण्ड) दूसरेको दो और तीसरेको एक देता है, एवं यह प्रत्येककी शक्तिके अनुसार है। उनमेंसे पहले दो तो नफा कमाते हैं। तीसरा अपने

टेलंटको दवा रखता है। परन्तु ल्युककी सुवार्तामें (६ : १-२ से) एक उमरावोंकी बात आती है। राजपाट प्राप्त करनेके लिये वह उमराव परदेशमें जाता है। उस समय अपने दश नौकरोंको प्रत्येकको एक एक पौण्ड देता है और जबतक मैं आऊँ तबतक इस पौण्डको पास रखना इस प्रकार कहता है। जब वह लौटकर पीछे आता है तब देखता है कि पहले नौकरने एकसे दश कमाया है और इससे वह उसे दश गाँवोंका अधिकार सौंपता है। दूसरे ने पाँच कमाये थे, इससे उसे पाँच गाँवोंका अधिकार देता है। तीसरा अपने पौण्डको रूमालमें बाँधकर रखता है और इससे वह कुछ भी नहीं कमा सका। उमराव उसका पौण्ड छीन लेता है और पहलेको दे देता है। दूसरे नौकरोंके सम्बन्धमें कुछ उल्लेख नहीं किया।

इस प्रकार ईसा (क्राईष्ट) में हमें दृष्टान्तकी एकता सूचक कुछ बन्धन नजर नहीं पड़ता। मुख्यतया तो परीक्षामें रक्खे गये मनुष्योंकी संख्या ही अनिश्चित है। एक कथामें तीनसे अधिक मनुष्य हैं' इससे यह मालूम होता है कि उन्होंने भी मालिकका सौंपा हुआ माल खराब कर डाला है ऐसा अर्थ निकलता है। माथीवाली कथाका तीसरा मनुष्य अपने टेलंटको दबा रखता है इस कारण इसकी अपेक्षा ल्युकमेंके तीसरे मनुष्यकी अपने

पौण्डको हिफाजतसे रखनेकी रीत उच्च प्रकारकी है' क्यों कि वह रूमालमें बाँध रखता है। परन्तु हमारी भारतीय कथामेंकी रक्षिकाकी रीत इससे भी श्रेष्ठ है। क्योंकि वह अपने धानके दानोंको चीथड़ेमें बाँधकर जेवरके डब्बेमें रखती है। माथीकी कथाके अन्तमें (२ : २६) तूने जो रक्खा नहीं वह लेता है और तूने जो बोया नहीं वह काटता है' ये शब्द भी देखने लायक हैं। क्योंकि इसमें के विचारोंकी भूमिकामें किसानकी भावना है, इससे भारतीय दृष्टान्तके यथार्थ अनुरूप है। क्राईष्टके दृष्टान्तके शेष अन्य समस्त विचारोंकी भूमिकामें व्यापारीकी भावना है क्योंकि वे दाने बोने या काटनेकी बातें नहीं करते, किन्तु पौण्डके व्यापारकी बातें करते हैं।

हमारे भारतीय और क्रिश्चियन दृष्टान्तोंकी रचना के सम्बन्धमें चर्चा करते हुये 'विलहेल्म हितेमान' अपने उपरोक्त दर्शाये हुए ग्रन्थोंमें इस प्रकार निर्णय करते हैं।

इन दृष्टान्तोंकी रचना परसे साहित्यिक सम्बन्धके विषयमें यह कहा जा सकता है कि क्राईष्टके जन्म पूर्व ५००वर्ष पहले भारतके लोग इस विषयमें अधिक सीखे थे। हितेमानका यह मत है कि यह दृष्टान्त किसी प्रकार भारतमेंसे पेलेस्टाइनमें गया होना चाहिये और क्राईष्टनेइसे उठा लिया होना चाहिये। मैंने अपनी प्रस्तावनामें मालूम

ही कर दिया है कि महावीर और क्राईष्टके बीचकी झलक आती हुई यह समानता मुझे तो किसी दूसरीही तरह हुई मालूम देती है। स्पष्टरूपसे आध्यात्मिक निर्बलता दिखानेके लिये प्रत्येक उपदेश प्रत्यक्ष रूपमें देख पड़ती जीवनकी अशक्ति और अशक्तिका वर्णन कर दिखलाता है। इस प्रकार हमारे दृष्टान्तमें मनुष्य जीवन अनुभवित और केवल स्वतंत्र विकाशित देखनेमें आया हुआ विचार दोनोंको समान रीतिसे आया हो, अथवा हम प्रथम देख गये उस प्रकार दो प्रजाओंके बीचका साहित्यसम्बन्ध किसी तरह बिल्कुल टूट गया हो तथापि पूर्वकी रचनाके आधारसे रची हुई पीछेकी रचना रह गई हो तो महावीर और क्राईष्टको इस समान रचनाके लिये पूर्वका स्वतंत्र आधार मिला हो (यह संभवित हो सकता है) तो जो सम्बन्ध देखनेमें आता है वह इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है और फिर पाँच सौ वर्षके बाद विचारमें–इसी मार्गमें प्रयाण करता हुआ एक नया महान् उपदेशक अवतरा।

महावीरके उपरान्त अन्य एक ब्राह्मण धर्मके कविने भी हमारे इस महावीरके दृष्टान्तके अनुरूप दृष्टान्त दिया है और वहभी उपदेश सूचक है। वह इस प्रकार है।

तीन व्यापारी परदेशमें जाते हैं। प्रत्येकके पास थोड़ा थोड़ा धन है। उनमेंसे एक खूब कमाता है। दूसरा

मात्र अपना मूल धनही लेकर पीछे घर आता है और तीसरा तो उतना भी खो आया। इस परसे यह सीखना है कि मनुष्य जीवन धन है' स्वर्ग यह कमाई है। जो मनुष्य अपना धन खोता है वह नीच योनिमें जन्म प्राप्त करता है। जो मनुष्य अपना धन पीछे घर लाता है वह फिरसे मनुष्य योनिमें अवतार लेता है। परन्तु जो कमाई करता है उसकी समानता देव लोकको प्राप्त करने वाले ज्ञानी पुरुषके साथ हो सकती है। indiau mid das christeuziur (भारत और ख्रिस्ती धर्म) इस नामकी पुस्तकमें पृष्ठ ४२–४४ पर (garbe) इस दृष्टान्तके दो जैन स्वरापके सम्बन्धमें विशेष चर्चा करते हैं।

दो समानतायें

समान कारणसे समान कार्यकी निष्पत्ति होती है। जहाँ मनुष्य स्वभाव अमुक भावनाओंके सम्बन्धमें और अमुक उद्देशोंपर विचार करता है वहाँपर देशकाल चाहे जितनी दूर हो तथापि उसमें अमुक प्रकारकी समानता होती ही है। धार्मिक भावनामें सदैव आन्तरिक भव्यता होती है इतना ही नहीं परन्तु उस आस्था और भव्यताके अनुरूप बाहरका कर्मकाण्ड भी होता ही है। इसके लिये आत्मबलि की जाती है' सत्कार्य किये जाते हैं, व्रत और आज्ञायें पालन की जाती हैं मात्र ऐसा ही नहीं बल्कि भाषा और विचार प्रगट करनेके विधि भी अमुक विशेष प्रकारका स्वरूप धारण करते हैं एवं इसके अनुरूप चित्र अंकित करते हैं। उस वक्त यह परिणाम उपस्थित होता है कि जिन धर्मोंका एक दूसरेके साथ कुछभी ऐतिहासिक सम्बन्ध नहीं होता उनमेंभी अनेक प्रकारकी समानतायें मिल आती हैं और जहाँ तहाँ प्रकट रूपमें अमुक प्रकारके समान विधि झलक आते हैं। यहाँ पर हमें थोड़ी बहुत ऐसीही समान

हमें यह भी जानना चाहिये कि प्रलोभककी समानता बुद्ध और क्राईष्टसे भी प्राचीन है। पारसी धर्मके संस्थापक 'जरथूस्त, जो बुद्ध पूर्व दो सौ वर्ष पर होगये हैं, उनके पास भी प्रलोभक गया था। इस प्रकार ८०० वर्ष के दरम्यान एशियाके धार्मिक इतिहासमें प्रलोभककी भावना कमसे कम तीन दफा देख पड़ती है। परन्तु हमें अपने आपको ही एक प्रकारका प्रलोभन—शताब्दियोंसे चली आती हुई इस भावना पर विचार करनेका प्रलोभन नहीं होता। यदि गहरा विचार करें तो मालूम होगा कि प्रलोभकका यह इतिहास बाह्य और आन्तर इस तरह दो विभागोंमें विभाजित है। पहलेमें धर्मसंस्थापकका सच्चा अनुभव होता है और उसमें अमुक समयमें जो निर्बलताका आक्रमण होता है उसपर उन्होंने प्राप्त किये हुए विजय का वर्णन आता है। दूसरेमें संसारके प्रलोभन पर अमुक धर्मसंस्थापक वीरने जो विजय प्राप्त किया उसका काव्य रसिक वर्णन आता है। जो दूसरे प्रकारका वर्णन है वह स्वाभाविक रीतिसे ही पहले प्रकारके वर्णन पर झोल चढ़ा हुआ है। परन्तु जरथूस्तके प्रसंगके समान जहाँपर प्रलोभकके इतिहासका मात्र बाह्य विभाग ही होता है वहाँ पर मानसिक अनुभवके आधारसे रचा हुआ है या नहीं इसका हम निर्णय नहीं कर सकते। जरथूस्तके धर्ममें

असुरात्मा-अन्धकारकी आत्मा-अग्रमैन्यु (अहिमन) सुरात्मा-प्रकाशकी आत्मा-अहरमज़्द (ओरमजद्) के साथ युद्ध करता है और स्वाभाविक रीतिसे ही यह युद्ध सुरात्माके पैगम्बर-जरथूस्तके सामने भी होता है। असुरात्मा दूर उत्तरमेंसे निकल आता है और पैगम्बर का घात करनेके लिये एक राक्षसको भेजता है। परन्तु जरथूस्तके ओजस् और उनके पवित्र शब्दके लिये उस राक्षसको भाग जाना पड़ता है। तब फिर अग्रमैन्यु स्वयं आता है और जरथूस्तको कहता है कि-सुरात्माका अनादर कर' इससे तू पृथ्वीपर हज़ार वर्ष राज्य कर सकेगा। परन्तु जरथूस्त अग्रमैन्युकी बात नहीं मानते और उसे उत्तर देते हैं कि-नहीं' चाहे मेरे देहका' जीवनका और आत्माका भी विनाश क्यों न हो, तथापि मैं सुरात्माका अनादर न करूँगा।

बस इतनेसेही पूर्ण होता है। यह कथा जरथूस्तके आस पासके प्रसंगों परसे बनाई गई हो यह माना जा सकता है। अथवा यह भी माना जा सकता है कि ज़रथूस्तने सुरात्माओंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अपने समागमके विषयमें जिस प्रकार बहुतसी बातें कही हैं उसी प्रकार यह भी कही हों और बाइबलके पुराने करारमें मोभीजके सम्बन्ध में जिस प्रकार वर्णन किया गया है उसी तरह एकान्तमें पर्वत पर हुए अपने समागमका वर्णन उन्होंने अपने उपदेशमें

किया हो। परन्तु बौद्धसाहित्यमे प्रलोभकका जुदा ही प्रकार है। उसमें तो बाह्य और आन्तर दोनों प्रकारका इतिहास है। आन्तर प्रकारका इतिहास खासकर विशेष प्राचीन है। दूसरा प्रक्षिप्त भाग रूपमें इससे जुदा पड़ता है। परन्तु उसमें भी महत्त्वकी बात तो यह है कि इस समस्त बौद्ध इतिहास ने एक ही मूलकथामेंसे भिन्नस्वरूप धारण किये हैं और इस हिसाबसे बुद्ध जब बोध तो पाचुके थे परन्तु अपने प्रचारक्रममें अभी स्थिर न बने थे उस समय प्रलोभकने उनके पास आकर उन्हें शंकामें डालनेका प्रयत्न किया था। इसी प्रकारकी दूसरी एक कथाके अनुसार उसी समय जगत्पिता ब्रह्मन् बुद्धके पास आया और उन्हें प्रोत्साहन दिया। दोनों कथाओंका अन्त अच्छी तरहसे उतारा है। पहली कथामें बुद्धदेव प्रलोभक पर विजय प्राप्त करते हैं और दूसरीमें बुद्ध जगत्पिताकी बातको स्वीकार करते हैं। इस तरह इनमेंकी एक कथा अधिक रूपमें मालूम देती है। (ओल्डन बर्गके 'बुद्ध' पृ० १३५ के अनुसार) परन्तु प्रलोभक द्वारा प्रारम्भमें आई हुई निर्बलताके कारण कुछ अंशमें और फिर जगत्पिता के द्वारा दिये हुए अन्तिम प्रोत्साहनसे कुछ अंशमें बुद्ध अपने प्रचार क्रमके निर्णय पर आये थे और यह बात उन्होंने अपने शिष्योंको कह सुनाई थी, यदि हम भी ऐसा माने तो

मानसिक भावसे ये दोनों कथायें एक दूसरेको पोषण और परिपूर्ण करती हैं। अगर ये दोनों हेतु एक ही कथा में जोड़ दिये गए होते तो नाट्यरसको सुशोभित करने वाली कथा बन जाती। परन्तु बुद्ध अपनी विचार माला को एक ही प्रसंग पर पूर्ण नहीं कर डालते' बल्कि हमेशाह प्रत्येक विचारका बारम्बार वर्णन किया करते हैं। इसी कारण उनकी इस प्रणालीके लिए ये कथायें एक कथामें नहीं जोड़ी जा सकीं।

अब हमें प्रलोभकके दो इतिहासों और जगत्पिताके इतिहास में क्रमसे कुछ गहरा उतरना चाहिये। यहाँ पर इतना कह देना ठीक होगा कि बौद्ध प्रलोभककी विचार कल्पनाका इतिहास वेदमेंसे चला आता है। मुख्यतया तो मृत्यु और मार ये नाम मरणके रूपक नाम थे और पापमन शब्दका अर्थ एक वचनमें हो तो साधारण रीति से पाप और यदि बहुवचनमें हो तो विधि पाप' खासकर जीवन पाप किया जाता था। संसार मात्र दुःख और मृत्युको उपस्थित करता है और इसी मोह जालके कारण प्रलोभक है। इससे बुद्धने उसे मार' मृत्यु और पापन् एवं मार पापन अथवा मार-पापीयस्का रूपक किया है। हम देख गये उस प्रकार प्राचीन समयमें प्रकृतिकी आभा और शक्तिने धर्मकल्पनामें सात्विक देवोंके स्व-

रूप धारण किए। परन्तु संसारसे उपरत हुए साधुने यह मोहरूप है इतने अंशमें समस्त प्रवृत्तिको तामसिक देवोंके स्वरूप दिये और 'मृत्यु' अथवा पापिन् या मार-पापन् ऐसे नाम दिये हैं। तथापि सार भावसे प्रकृति जगत्पिता ब्रह्मनके विश्वके दृश्य स्वरूपमें कल्पित की गई थी। बौद्ध धर्ममें इसे प्रलोभक मानकर तामसिक देव का स्वरूप दिया है और मारपापिन् नाम रक्खा है' इस लिये हम भी काम चलानेके लिये यहाँपर इसी नामसे लिखेंगे। बौद्धधर्ममें इसका नमूची भी नाम मिलता है और यही नाम वेदमें एक असुरका आता है। प्राचीन कालमें मृत्युकी सेनाके विषयमें अनेक उल्लेख किये जाते थे इससे बुद्धके प्रलोभके लिए भी उस प्रकारके साथियों का आरोप किया गया है। (१) बुद्धनेअपनी मृत्युके पूर्व शिष्य आनन्दसे कही हुई प्रलोभक की कथा—

हे आनन्द! एक दफा बोध प्राप्त किये बाद मैं निरंजरा नदीके किनारेपर आए हुए उरूवेलामें पीपल-वृक्षके नीचे बैठा था। हे आनन्द! जहाँपर मैं बैठा था वहाँपर मारपापन् आकर मेरी बराबरीमें खड़ा रहा। मेरे पास खड़ा होकर हे आनन्द! मारपापन् मुझे यों कहने लगा—"अब आप निर्वाणमें जाओ' तथागत निर्वाणमें जाओ' बुद्ध तथागतको निर्वाणमें जानेका समय आया

है। (भावार्थ--बोधके द्वारा प्राप्त हुई आत्मशक्तिसे अब आप संतोष धारण करो) इस प्रकार उसकी वाणी सुन कर हे आनन्द ! मारपापन्को मैंने यों कहा--

"विवेकी और ज्ञानी हों' शब्दको बुद्धिपूर्वक सुनें' विद्याको जानें' विद्याका अनुसरण करें उसे फलीभूत करें' शुद्धविचारोंको धारण करें' ज्ञानके अनुसार बर्ताव करें' अपने गुरुसे जो सुना हो उसका विस्तार करें' सिखावें और जाहिर करें' व्यवस्थित करें' प्रगट करें' चर्चाकरें। इससे विरुद्ध भाववाला हो उसका निषेध करें' चमत्कार के द्वारा विद्याका प्रभाव बतलावें' इस प्रकारके साधुओं को जबतक शिष्य न बनाऊँ तबतक हे पापन् मैं निर्वाणमें न जाऊंगा।"

"विवेकी और ज्ञानी हों' शब्दको बुद्धिपूर्वक सुनें' विद्याका अनुसरण करके उसे फलीभूत करें' शुद्ध विचारों को धारण करें' ज्ञानके अनुसार बर्ताव करें' अपने गुरुओं के पाससे जो सुना हो उसका विस्तार करें' सिखावें' जाहिर करें' व्यवस्थित करें' प्रगट करें' चर्चा करें' इस से विरुद्ध भावका हो उसका निषेध करें' चमत्कारके द्वारा विद्याका प्रभाव बतलावें इस प्रकारकी साध्वियोंको जब तक शिष्यायें न बनाऊं तबतक हे पापन् ! मैं निर्वाण में न जाऊंगा। (इसी प्रकार गृहस्थियों और गृहस्थिनियों

के वास्ते भी पूर्वोक्त शब्दोंमें ही बोलते हैं) जिस शुद्धा-चारका मैं उपदेश करता हूँ उसे सब लोग जबतक न स्वीकारें-आचरणमें न रक्खें और मनुष्य क्रमशः अच्छी तरह उसे न समझ लें तबतक हे पापन् मैं निर्वाणमें न जाऊंगा।

(२) बुद्धके परीक्षणका काव्यमें वर्णन इस प्रकार है-- उपरोक्त वर्णनमें प्रलोभक बुद्धको उनकी योजना से पीछे हटाना चाहता था। याने बुद्ध अपना ज्ञान जगतको समर्पण न करें और अपने धर्मसंघकी रचना न करें यह इच्छता था। इस नीचेके वर्णनमें दो श्लोक इस बातका इशारा करते हैं परन्तु हमारे कविने इस भावको विस्तृत करके फिरा डाला है। इस मारकी पद्धतिको और बुद्धके साथ वाले उसके सम्बन्धको किस तरह इसमें फिरा डाला है वह इससे स्पष्ट होता है। उनके मतसे मारने ऐसी योजना रची है कि बुद्ध अपने कठिन साधु जीवनको छोड़कर पीछे सांसारिक ब्राह्मण धर्ममें जुड़ जाय।

निरंजरा नदीके तट पर चरम लक्ष्य प्राप्त करनेका प्रयत्न करते थे। निर्वाण शान्ति प्राप्त करनेके विचारमें लीन हो गये थे, उस वक्त उनके पास नमूचि गया, मीठे वचनसे बोला-१ शाक्य पुत्र ! उठ इस जीवन कष्टसे तुझे क्या लाभ है ? २ तू सूख गया है, देखनेमें दुर्बल

होगया है, मृत्यु तेरे पास आगई है तेरे हजार भाग तो मृत्युके होचुके हैं मात्र एक भागमें जीवन है" ३ "जीवन्त को तो जीवन श्रेष्ठ है, जीता है वहाँ तक कर्तव्य कर। क्योंकि मनुष्य जीता है तब तक कर्म करता है, जो करने का है उसे छोड़ता नहीं।" ४ "यदि तू दान करे और यज्ञ करे तो तुझे महालाभ होगा। तेरे साधुजीवनसे क्या मिलेगा ?" ५ इस जीवन मार्गमें जाना बड़ा कठिन है, इस जीवनको पार करना कष्ट जनक है, इस तरह वचन बोल कर मार बुद्धके पास खड़ा रहा।"

६ इस प्रकार बोलनेवाले मारकोत थागतने यों कहा— "लघुचेतस् सत्व, पापन् ! तू अपने स्वार्थके कारण आया है। ७ "क्योंकि ऐसे लघु कार्यसे जो होनेवाला लाभ सो तो हे मार ! तूही बतलावे।" ८ 'प्रयत्नसे मै बहुत नहीं कर सकता' क्योंकि प्रयत्नके साथ जीवनका अन्त आता है। जिस पवित्र जीवन चर्यासे फिर जन्म न आवे अन्तमें अपने आपको समर्पित करूंगा।,, ९
नदीके प्रवाहको भी वायु सुखा सकती है। अपने लक्ष्य पर पहुँचनेका प्रयत्न करता हुआ जो मैं उसका खून वह किस लिये नहीं सुखावे। १० जब खून सूखेगा तो कफ पित्तभी सूखेगा मांस सूखेगा तब आत्मा विशेष शान्ति प्राप्त करेगी और मेरा ध्यान, मेरा ज्ञान एवं मेरा योग विशेष दृढ होगा ११

इस प्रकार करते हुए यदि मैं मृत्यु दुःखको प्राप्त होऊंगा, तो आत्मा मृत देहको नहीं देखे, आत्माकी विरुद्धता देखो, १२मुझमें इच्छा है, वीर्य है एवं मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है। जगत्में मैं ऐसा कुछ नहीं देखता जो मुझमें वीर्य होते हुए भी मुझे सुखा सके, १३अहा ! बिलकुल साधारण जीवनकी अपेक्षा तो जीवनका हनन करनेवाली मृत्यु अच्छी। हारकर मैं जीवित रहूँ इससे तो मुझे युद्धमें मरना अच्छा१४इच्छा तेरा पहला सैनिक है। दूसरेका नाम निरानन्द है' भूख, प्यास, यह तेरा तीसरा है। चौथेका नाम तृष्णा है१५मूढता और आलस्य यह पांचवाँ और भय यह छठा कहलाता है,। तेरा सातवाँ द्विधा दम्भ तथा अभिमान यह आठवाँ है। १६ और दूसरा वह लाभ' कुछ कीर्ति' मान तथा दूसरे आदर न करें। तथापि स्वयं अपने आपकी बड़ाई करे इस प्रकारका असत्य उत्पन्न किया हुआ दिखाव। १७ यह तेरी सेना है' नमूचि कालवलकी यह युद्धसेना है। जो वीर नहीं है वह विजय नहीं पाता और विजयके बाद लाभ भी नहीं प्राप्त करता। १८ मारकी सेना चारों दिशाओंमें देखता हूँ। अपने साथियोंके साथ मार घेर रहा है' जिससे मैं युद्धमेंसे निकल जाऊँ, कि वह मुझे स्थान भ्रष्ट न करे-१९ समस्त जगत्को और देवोंको जीतनेवाली तेरी इस

सेनाको' अपने ज्ञानके बलसे बखेर दूँगा, पत्थरके द्वारा जिस प्रकार मिट्टीके कच्चे घड़ेको,, । २० इच्छाओंको संयममें लाकर और ध्यानसे दृढ करके फिर मैं देशोदेश फिरूँगा और श्रोताओंको उपदेश दूँगा । २१ वे सब गंभीर भावसे लक्ष्यपूर्वक मेरी आज्ञाओंको स्वीकार करेंगे और तेरी इच्छाविरुद्ध जायँगे' जहाँ जाकर निराशन होंगे, २२ मार बोला सातवर्षों से तथागतके पदचिन्हसे पीछे फिरता हूँ' इस सावधान प्रकाशितको पकड़नेका लाभ न मिला । २३ माँसके समान दीखते हुए एक पत्थरको देखकर उस पर एक चील आ बैठी' शायद इसमेंसे कुछ खानेको मिले' शायद इसमेंसे कुछ स्वादिष्ट मिले । २४ उसमेंसे कुछ स्वादिष्ट नहीं मिला, इससे वह चील वहाँसे उड़ गई । उस चीलने जिस प्रकार उस पत्थरको छोड़ा उसी प्रकार थक कर तथागतको छोड़ता हूँ । २५ शोकसे दबे हुए उसका शब्द एक दफा डूब गया । इसके बाद वह बिचारा असुर अपनी जगह छोड़कर अदृश्य होगया । २६

(ओल्डन बर्ग 'बुद्ध' पृ० १३९–१४१)

(महाबोध प्राप्त किये बाद) जब तथागत एकान्तमें बैठे थे तब उनके मनमें यह विचार आया' जो गंभीर सत्य जाननेमें कठिन है' समझनेमें कठिन है' जो शान्ति प्रद और भव्य है' जो समस्त विचारोंपर विजय प्राप्त

करता है' जो भावनापूर्ण है और जिसे बुद्धिमान मनुष्य ही प्राप्त कर सकते हैं वह गंभीर सत्य मैंने प्राप्त किया है। मनुष्य सांसारिक जीवनमें परिभ्रमण करता है" सांसारिक जीवनमें उसे उसका स्थान प्राप्त होता है और उसे उसका आनन्द भी मिलता है। सांसारिक जीवनमें भटकनेवाले और उसमें अपना स्थान प्राप्त करने वाले तथा अपने आनन्दको प्राप्त करनेवाले मनुष्य को कर्मके नियमको कार्य कारणकी समुत्पाद द्वादश निदान मालाको समझना कठिन है। समस्त जन्म देनेवाले संस्कारोंको समाविष्ट करने, समस्त ऐहिक वासनाओंको छेदन करने' तृष्णाओंका निरोध करने' अन्त– निर्वाण प्राप्त करनेकी बातें समझनी तो उसे बहुत ही कठिन हैं। यदि इस ज्ञानका मैं जगत्में उपदेश करूँगा और लोग न समझें तो मुझे निराशा और शोक होगा।

इतनेही में तथागतको पूर्वमें कभी किसीको न आये थे इस प्रकारके विचार अकस्मात् स्फुरायमान हुए।

महाविकट संग्राम द्वारा मैंने जो प्राप्त किया है उसे किस लिये जगत्के सामने प्रगट करना चाहिए? सत्य गूढ है' प्रगट करनेसे उत्कंठा और तिरस्कार उत्पन्न होता है। जड़ बुद्धिको इससे उत्कान आती है। इसी कारण वह गुप्त, गूढ आच्छादित है। संसारकी वासना

ने जिसके विचारको रात्रि द्वारा घेर लिया है उसका दिखलाना ठीक नहीं।

तथागतने इस प्रकार विचार करके शान्तिमें रहने और ज्ञानका उपदेश न करनेका हृदयके साथ निर्णय किया। (जगत्पिता) ब्रह्मन सहंपतिने अपने विचारों द्वारा तथागतके विचार जाने और मनही मन बोले तथागत का' पवित्रमय बुद्धका हृदय शान्तिमें रहने और ज्ञानका उपदेश न करनेका निर्णय करेगा तो जगत् सचमुच ही अस्त हो जायगा, सचमुच ही जगत् प्रलय को प्राप्त करेगा।

इसके बाद ब्रम्हन् सहंपति ब्रह्मस्थान छोड़कर चले और मनुष्य मुड़े हुये हाथको सीधा करे या सीधे हाथ को मोड़े इतनेही समयमें शीघ्रतासे तथागतके सन्मुख आकर खड़ा हुआ। (तथागतको मान देनेके लिये)ब्रम्हन् सहंपतिने उत्तरीयको एक तरफ हटाकर अपना एक कंधा उघाड़ा, दहना गोड़ा भूमिपर लगाया और तथागतको हाथ जोड़कर बोला—प्रभो तथागत! ज्ञानका उपदेश करें' परिपूर्ण भगवन्! ज्ञानका उपदेश करें। कितनेक जीव इस प्रकारके होते हैं कि जो संसारकी मलिनतासे विशुद्ध होते हुए भी यदि इस ज्ञानका उपदेश न सुनने पायें तो वे विनाशको प्राप्त हो जायें। उपदेशसे वे

जीव ज्ञान प्राप्त करेंगे। इस प्रकार ब्रह्मन् सहंपति बोले।

इतना बोलकर वे पीछे यों बोले—मगध देशमें आज अशुद्ध जीवों, पापी मनुष्योंके लिए उपदेश उत्पन्न हुआ है, ज्ञानी! शाश्वतके दरवाजेको उघाड़! जो पाप नाशक है तू जानता है दूसरों को सुना। जो मनुष्य पर्वत के शिखर पर खड़ा रहता है उसकी दृष्टि दूर दूर तक सब लोगोंपर पड़ती है। ज्ञानी! तू भी ऊँचे चढ़। जहाँ पर सत्यकी भावना जमीनसे ऊँची हो वहाँ से दुःख नाशक और जन्म जरासे पीड़ित मनुष्य जाति पर दृष्टि डाल। धन्य धन्य युद्धवीर विजय प्राप्त कर। जगतमें विचर, पाप नाशक मार्गदर्शक अपने शब्दोंका उच्चार कर। इससे अनेक मनुष्य तेरे वचनोंको समझेंगे।

(ब्रम्हन्की पूर्वोक्त सूचनामें बुद्धको शंका रही। उन्होंने समझा कि सत्यका उपदेश करना यह निष्फल प्रयत्न है, तथापि ब्रम्हनने दूसरी दफा भी यही प्रार्थना की। अन्तमें बुद्धने इस सूचनाके अनुसार वर्तन करनेका निश्चय किया।)

इस प्रकार पद्मसरोवरमें कितने एक पद्म, कमल और अरविन्द पानीमें जन्म लेते हैं, पानीमें ही बढ़ते हैं परन्तु पानीसे बाहर नहीं निकलते और पानीके अन्दर ही खिलते हैं। अन्य कितने ही पद्म, कमल और अरविन्द पानीमें

जन्मते हैं, पानीमें बढते हैं और पानीके किनारे तक पहुंचते हैं। और भी कितने ही पद्म, कमल और अरविन्द पानीमें उत्पन्न होते हैं, पानीमें बढ़ते हैं, पानीसे बाहर निकलते हैं और उनके फलको पानी स्पर्श नहीं कर सकता। इसी प्रकार बुद्धकी दृष्टिसे तथागतने जगत पर नजर डाली। उस वक्त उन्होंने कितनेएक जीव इस प्रकारके देखे कि जिनकी आत्मा भौतिकसे शुद्ध थी, कितने एक जीवोंकी आत्मा शुद्ध न थी। कितने एक जीवोंकी बुद्धि तीव्र थी, कितने एक जीवोंकी जड़ थी। कितने एक जीव अनार्य थे और और कितनेएक आर्य थे। कितनेएक सुश्रावक थे, कितनेएक कुश्रावक। कितनेएक परलोकका भय रखते थे, कितनेएक पापका भय रखते थे। जब उन्होंने यह स्थिति देखी तब ब्रम्हन् सहंपतिको निम्न लिखित वचन कहे— शाश्वतके दरवाजे सबके लिए खुलो, जिसके कान हैं वह सुने और श्रद्धा करे। मुझे निरर्थक चिन्ता करनी उचित नहीं, जगतने अभी आर्य शब्द नहीं सुना।

ब्रम्हन् सहंपतिने अब यह जाना कि तथागतने मेरी प्रार्थना स्वीकार ली है, वह ज्ञानका उपदेश करेगा। इसके बाद उसने तथागतको नमस्कार किया और पीछेहट कर अदृश्य होगया ××

इससे मालूम हो सकता है कि प्रलोभककी प्रथम

कथा इन बौद्ध कथाओंमें सबसे प्राचीन है और जगत पिताकी कथामें अन्दरका सम्बन्ध है। प्रलोभक वाली कथा में की मानसिक भावना जगत् पिताकी कथामें साकार रूप धारण करती है। अर्थात् निर्वाणका बोध प्राप्त किये बाद जगतमें उस ज्ञानका उपदेश करनेका निर्णय बुद्ध कर न सके थे। उन्हें शंका थी और उस शंकाके कारण ही प्रलोभककी प्रथम कथामें मारके परीक्षणका वर्णन किया हुआ है। वह वर्णन ऐसा सच्चा मालूम होता है कि मानो बुद्धने किसी प्रसंगपर इस शंकाके विषय में कुछ कहा हो और उसीका मानो यह आवेहूब चित्र हो। बुद्धको जगत्पिता द्वारा कहे हुए पहले वचन (कि मानो जो मूलके हैं, क्योंकि दूसरे तो पीछे से काव्यमें उतारे हुए नवीन हैं) महावग्ग १, ११ में कथन किये अनुसार प्रलोभककी कथाके मंगलाचरणमें पुनः आते हैं और इस प्रकार जगत्पिताकी एवं प्रलोभककी इन दो कथाओंके बीच सम्बन्ध है। तथा यह भी देखने लायक है कि प्रलोभककी प्रथम कथामें कथन किये अनुसार बुद्धका परीक्षण स्त्रीस्त के परीक्षणके साथ यथार्थ मिलता आता है। स्त्रीस्तको भी जब वे जगतमें उपदेश करनेको निकलते हैं उसमें पहले प्रलोभकने इन्हें पीछे हटानेका प्रयत्न किया था। इरानी प्रलोभक कथामें जरथूस्तको भी असुरने तीर मारने

का प्रयत्न किया था। वह इन कथाओंसे याद आता है। परन्तु हमारी कथाओंमें जो भीतरी तात्पर्य है वह उस इरानी कथामें नहीं है।

इस प्रकार जरथूस्त, बुद्ध और ख्रीस्त इन तीनोंके परीक्षणको एक दूसरेके साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। इनमें जो भेद है वह महत्वका नहीं है। पहले परीक्षण दूसरे परीक्षणोंमें झलक आते हैं और पहले परीक्षण की कथायें दूसरे परीक्षण की कथाओंमें झलक आती हैं। इसके उपरान्त हम देख गये उस प्रकार बुद्धके प्रलोभक और मार ऐसी भावनाकी मूर्त्ति हैं जो भावना प्राचीन भारत भावनाके मूलमें है और इससे इसके अनुसार इरानी प्रलोभक नहीं हो सकता। बल्कि किसी भी कथामें प्रलोभक या प्रलोभन् शब्द नहीं रक्खे गये।

भिन्न भिन्न प्रजाओंके उत्कर्षके बीचमें कोई अमुक प्रकारका गुप्त सम्बन्ध हो उसकी सिद्धिके लिए ऊपर कथन किया गया है उस प्रकारकी बिल्कुल अल्प साम्यतायें धार्मिक इतिहासमें मिलती हैं। भारत, इरान और पेलेस्टाइनकी जिन विचार दृष्टियोंका हमने मिलान किया है उसका गुप्त सम्बन्ध जोड़नेवाला यदि कोई हो सकता है तो वह मात्र मानव आत्मा ही है। देश कालके भेदानुसार इस आत्मामें भी भेद पड़ता है, यह बात सत्य है,

तथापि धर्म संस्थापक एक दूसरेसे स्वतन्त्र रीत्या समान रूपक योजनायें योज निकालें और वे परीक्षणोंमें पार उतरें इस प्रकारकी समानतायें तो भिन्न भिन्न प्रजामें रहती ही हैं।

*पूर्व काल

जगत्के एक महाधर्म एवं कुछ कम प्रसिद्धिको प्राप्त हुए एक सहधर्म पर यहाँ पर दृष्टिपात करते हैं। उसके रूप रंगके विषयमें ही विवेचन करके हम विराम न पायेंगे, परन्तु उसकी भावना और उत्पत्तिके बारेमें भी कुछ विचार करेंगे। ये दोनों धर्म प्राचीन आर्य धर्मके

---

*इस बातका हम यहां पर खुलासा कर देना चाहते हैं कि यह पूर्वकाल इस निबन्धके प्रारम्भका हिस्सा है। परन्तु साधारण पाठकोंके लिये निबन्धकी शुरूआतमे कुछ कठिन प्रतीत होनेके कारण मान्यवर पं० सुखलालजीकी सलाहसे इसे अन्तमे जोड़ दिया है' (हिन्दी अनुवादक)

विकाश क्रमके परिणाम स्वरूप हों ऐसा प्रतीत होता है। और इस तरह दूसरी एक इन्डो-जर्मन प्रजाके मूल धर्म के साथ होमरके तथा प्राचीन जर्मनोंके धर्मके साथ इन का सम्बन्ध कल्पित किया जा सकता है।

सम्भव है कि बहुतसे पाठक महाशय इस प्रस्ताव को सुनकर आश्चर्य चकित हो जायें, क्योंकि उनके मतसे बौद्धमतके सिद्धान्त होमरके धर्म सिद्धान्तोंसे सर्वथा भिन्न हैं। परन्तु ये धर्म और सिद्धान्त अपने गीत, प्रार्थना एवं कथाओंकी रचना करनेमें जिस भाषाका उपयोग करते हैं वह भाषा भी एक दूसरेसे बिल्कुल जुदीही मालूम देती है। इलियड या ओडेसी अथवा एडा परसे (इलियड, ओडेसी या एडा ग्रन्थोंको देख कर) हिन्दुओंके सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेदों या बौद्ध शास्त्रों को नहीं समझ सकेगा। तथापि इन सबकी भाषाओंका अति प्राचीन सम्बन्ध है। बहुतही प्राचीन कालमें ईसा के पूर्व ३०००के लगभग हिन्दू, ईरानी, ग्रीक, रोमन, जर्मन, स्लाव, केल्ट आदि इन्डोजर्मन प्रजाओंमें परस्पर सम्बन्ध था। एशिया और युरोपके सीमा प्रदेशमें किसी जगह पर इनके पास पासमें ही निवास स्थान थे। वे एक दूसरेकी बोलचाल समझते थे। और धार्मिक भावनाओं एवं रीतरिवाजोंमें भी विशेष साम्यता रखते

थे। यद्यपि इस बातको आज हजारों वर्ष बीत गये हैं। परन्तु भाषा और धर्म ऐसी चिकनी संस्थायें हैं कि जिनमें अन्य सब वस्तुओंके समान कालातिक्रमसे परिवर्तन तो अवश्य होता है, किन्तु हजारों वर्ष व्यतीत हो जानेपर भी वे किसी न किसी प्रकार अपनी जड़को नहीं छोड़तीं। यह बात सर्वथा सत्य है कि ज्यों ज्यों कालातिक्रम होता जाता है और उसके साथही ज्यों ज्यों अधिक परिवर्तन होता जाता है त्यों त्यों उनकी मूल स्थितिको जानना और उनके प्राचीन सम्बन्धको समझना अति कठिन काम हो जाता है। इसको जानने और समझनेमें अधिक काठिन्य तो इसलिये हो जाता है कि वह सम्बन्ध जहाँ तहाँ से विचित्र रीत्या ढ़ीला पड़ जाता है। ऐसा बनाव भी बनता है कि (उन परिवर्तनोंमें) एक भाषा दूसरी पराई भाषा के असरसे एवं एक धर्म दूसरे किसी पराये धर्मके असरसे बदल जाते हैं। उस भाषामिश्रण और धर्म मिश्रणका ऐसा परिणाम उपस्थित होता है कि भूतकालको समझाने वाले समस्त साधन उलझन भरे प्रतीत होते हैं। किसी प्रजामें भाषा या धर्मका विकास कुछ स्वतन्त्र भावसे और क्रमसे धीरे धीरे होता है उस वक्त भी ऐसा बनाव बनता है कि उस प्रजाकी ऊँची या नीची श्रेणीके लोकशब्द रूढ़ स्वरूप धारण कर लेते हैं और लौकिक जीवन संबन्धी

धर्म स्पष्ट रूप धारण करता है; अथवा अमुक स्वरूप धारण करके वह संतोष प्राप्त करता है। इसके अनुसार अमुक प्रजाकी भाषा और साहित्य अमुक विशिष्ट स्वरूप धारण करते हैं। जैसे कि हिन्दुओं और इरानियोंके प्राचीन विकासमें धार्मिक तत्वने शुद्ध धार्मिक स्वरूप ही प्राप्त किया, परन्तु होमर और प्राचीन जर्मनोंके सम्बन्धमें तो इसने महाकाव्यमें ही स्थान पाया।

इस वस्तुस्थितिका परिणाम यह हुआ कि देव प्रार्थना के मंत्र जैसे वेदमें आये वैसेही होमरके आये हैं। इससे पिछले समयके ग्रीकोंमें भी यह रचना न आसकी। बारह वर्ष पूर्व इजीप्तमेंसे आल्काईओसका एक काव्य उपलब्ध हुआ है। उसका भाव और छन्द अद्भुत रीत्या प्राचीन भारतीय मंत्रोंके साथ मिलता जुलता है। इससे यह मालूम होता है कि ऐसे काव्योंका स्वरूप (भारतीय छन्दके स्वरूपको त्रिष्टुभ् कहते हैं) प्राचीन इन्डो-जर्मनों की देवस्तवनामेंसे निर्माण हुआ था।

आल्काई ओसके गीतमें दीओस्कूरकी प्रार्थना है और 'गेर्कने' उसका इस प्रकार अनुवाद किया है:—

(इन्तरमानातश्रीफत १९१७ पृ० ५९६ से) आवो यहाँ नक्षत्रसे शोभते आकाशको तजके' प्रगट होओ यहाँ और सहायता करो, जेऊस और लेदाके बलवान् पुत्रो,

कास्तर और पोली-देऊकेस, त्वरित गतिके घोड़ेकी पीठ पर चढ़कर, भूमि और समुद्रपर फिरो, और मृत्युकी शीतल जरासे मानवीको तारो तुम। सत्वर वेगसे मंदिरके शिखरपर जाओ, दुवाके शिखर प्रदेशको दूरसे प्रकाशित करो। और रात्रिमें डामाडोल होती श्याम नौका को आशा किरण दो।

[इसके पीछेके दो श्लोकोंके मात्र दो ही अक्षर मिल सके हैं। दीओस्कूर सामुद्रिक तुफानसे बचानेवाले देव हैं। मिलाओ H. A Y. M A. Hom. 336 F F और Enfip Helen. 1495 F. F. तथा लिओपोल्द फॉन श्रोइडरके Arische Religion F. F. (१६१६ पृ० ४३८-४५८) में आए हुये die Diospuren वाला प्रकरण भी देखने लायक है। आल्काई ओसके श्लोक ग्यारह अक्षर की तीन और ६ अक्षरकी एक (Hiscameter) अन्तिम की एवं चार पंक्तियोंके हैं। वेदके श्लोक ग्यारह अक्षरकी चार पंक्तियोंके हैं, मैत्रेय समिति नामक मेरे ग्रन्थमें (१६१६) पृ० १५८ से ग्यारह अक्षरकी पंक्तिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें विवेचन किया गया है, और ६ अक्षरोंका जो अन्तिम छोटा चरण है उसके सम्बन्धमें भी उसी ग्रन्थमें १३६ वें पृष्टपर और खास तौरपर New Metrik (१६२० V W ·V,)

नामक हमारे लेखमें विवेचन किया गया है ।] इस प्रकार संकटमेंसे बचानेवाले ये दीओस्कूर दो देव हैं । इन देवों का सदैव युग्म माना जाता है । और सहायताके लिये इनकी इकट्ठीही प्रार्थना की जाती है । "जेऊसके पुत्रो" इनका यह नाम वेदमेंके 'दिवो न पाता' से मिलता हुआ आता है और बल्कि वेदमें भी ये दोनों देव संकटके समय सहायता करनेवाले माने गये हैं ।

जिस प्रकार आल्काई ओसने की है उस प्रकार इनकी प्रार्थना सहायताके लिये की जाती है । और इनसे मिली हुई सहायताके कारण इनकी वारम्वार स्तवना गाई जाती हैं । वेदमें किये हुए वर्णनके अनुसार ये अद्भुत रथमें बैठकर विचरते हैं और उस समय ये अश्विना कहलाते हैं तथा नासऽत्या (नअसत्या) भी कहलाते हैं । अर्थात् मनुष्य सुखपूर्वक विश्वास रखकर इनकी शरण जा सकता है । इनके प्रति उच्चारण किये हुए वेदमन्त्र इस प्रकार हैं (मूलमें ग्यारह अक्षरकी पंक्तियां हैं, अतः तदनुसार अनुवादमें भी ग्यारह अक्षरकी ही पंक्तियां रक्खी गई हैं) आसमानका जर्मन अनुवाद मन्त्र-, आवो हे अश्विन, श्येन, पक्षीसे अंकित अ०-१७ रथमें बैठकर आप भव्य सहायक, ऋ०-३ तुम्हारा रथ मर्त्यके मनसे भी त्वरित वेगवाला, वायुसे भी, और यह त्रिवन्धु है, हे वीर । १

आपके रथमें बैठकर आवो, जो त्रिवन्धु है, उसमें तीन बैठक हैं, श्रेष्ठ परन्तु गोल पहिये हैं। हमारी गायोंको पुष्ट करो घोड़ोंको त्वरित करो, हमारे मनुष्योंको सबल करो, हे अश्विन। २ त्वरित रथमें बैठकर यहाँ आवो और इस पर्वतका शब्द लेलो, नहीं तो प्राचीन गायकों ने तुम्हें—भीड़में सहायक किसलिये कहे हे अश्विन ! ३ हे अश्विन, तुम्हें ये श्येन पक्षी लाते हैं, ये त्वरित पक्षी जिस रथको खींचते हैं। स्वर्गके गीध पक्षी जितने ये निश्वास पात्र हैं, और तुम्हें निश्चय यज्ञमें ले जाते हैं। ४ तुम्हारे रथपर सूर्यकी कन्या, यह युवती परिपूर्ण आनन्द से चढ़ी, अद्भुत लाल पक्षीको वहन कर लानेवाले ये त्वरित अश्व तुम्हें यहाँ लावें। ५ भव्यता द्वारा आप वन्दन कराते हो, शक्तिद्वारा खेल कराते हो हे वीर ! भृगुके पुत्रको तुम समुद्र पार ले गये। और च्यवनको फिर युवान बनाया। ६ अग्निके तापमें समागये हुए अत्रिको, अश्विन ! तुमने ताजा करके बल समर्पण किया। अन्ध बने हुए कण्वको, उसकी प्रार्थना सुनकर, आपने फिरसे उसे आँखें समर्पण कीं॥ ७॥ भाग जाती हुई शर्युकी गायको हे अश्विन ! तुमने प्राचीन कालमें दूधसे परिपूर्ण की। वर्तिकाकी हरकतें तुम्हींने दूर कीं, और विश्यलाको जंघायें अर्पण कीं, ॥ ८॥ सर्पको मारने

वाला सुरेशसे प्रेरित, हिनहिनाट करता हुआ शत्रुको पराजित करनेवाला, सबल अङ्गवाला अभिभूतिसे उग्र इस प्रकारका श्वेत अश्व तुमने पदूको दिया॥ ६। इसलिए हम तुम्हें हे सुजात वीरो, सहायताके लिये प्रार्थना करते हैं, हमारी प्रार्थनाओंसे संतुष्ट होकर हमारे कल्याणार्थ रथमें बैठकर आओ ॥ १० ॥ हे सत्य पुरुषो ताजे श्येनके वेगसे हमारे पास आवो, हे सजोप, प्रत्येक प्रभातकी उषाके उदय कालमें, हव्य लाकर तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ हे अश्विन ॥ ११ ॥

इस प्रकारके जो अमुक कितने एक देव प्राचीन भारत वासियों, प्राचीन ग्रीकों, कुछ अंशमें प्राचीन रोमनों, प्राचीन जर्मनों अथवा इन्डो जर्मन प्रजाके बहुत से लोगोंने माने हैं वे उनके अति प्राचीन कालीन इंडोजर्मन प्रजाके मूल धर्ममेंसे उतरे हुए हैं।

प्रथम तो आकाशका देव जर्मनमें Vater yeus ग्रीकमें ···लेटिनमें gupiter (ॻju Paterपरसे) वैदिकद्यौः ष्पिता कहलाते हैं।

मलसकाकी देवी जर्मनमें Luoehterin ग्रीक में लेटिनमें Aurora' वैदिकमें उषस् कहलाती है सूर्यदेवको जर्मन में Himmlische ग्रीकमें गोथिकमें Sauil वैदिकमें सूर्य कहते हैं। अग्निदेवको लेटिनमें Ignis, प्राचीन

श्लावमें Ogni वैदिकमें अग्नि कहते हैं। वायुदेवको जर्मनमें Woutan अथवा Odin वैदिकमें वात कहते हैं। वेदकालीन आर्य लोग जिसे रुद्र (भयंकर) कहते थे उसे पीछेके कालके आर्य मंगल भाषामें शिव (कल्याणकर) कहने लगे। युद्धका देव आदिमें मास् मृत (मनुष्यमारक) था, उसमेंसे मामृत हुआ और उससे साम्यभावके कारण मावृत लेटिनमें Mavort और मार्ट Mart वैदिकमें मरुत् कहलाया। स्वर्गीय कलाधरको जर्मनमें Elfen ग्रीकमें oppeus वैदिकमें ऋभु कहते हैं।

प्राचीन इंडोजर्मन प्रजाका धर्म एक प्रकृति धर्म था। चारों ओरसे सृष्टिमें अनुभवमें आती हुई शक्ति और उसके दृश्य एवं उसके परिणामों से हमारे पूर्वज आश्चर्यचकित होते थे। उसे वे पूज्यभावसे देखते। उनमें वे कुछ उच्च और अलौकिक वैदिक तथा शाश्वतभाव आरोपित करते, उनकी स्तुति और प्रार्थनायें करते। उनसे प्राप्त हुए और प्राप्त होनेवाले लाभके लिये वे उन्हें नैवेध चढ़ाते, स्वर्गीय अतिथियोंके समान उनका आव्हान करते और उन्हें खाद्यपेय चढ़ाते तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिए प्रार्थना करते थे। इस तरह प्रकृति पूजा और प्रकृति संस्कार, बल्कि इन सबसे अधिक गंभीर तो प्रकृति भावना यह इस धर्मका मुख्य तत्व था। उन्होंने प्रकृति विषयक,

ऐश्वर्यविषयक, भव्यता विषयक, आकाश और पृथ्वी सम्बन्धी अनुभूत भयके और मनुष्योंके सुख दुःखके सम्बन्धमें प्रवण शील काव्योंकी रचना की, यद्यपि आनन्द युत दिये जाते हुए वाह्य और आन्तरतम समर्पणके साथ कदाचित् इसका कुछ सम्बन्ध न भी हो तथापि इस प्रकृति पूजामें उन्हें काव्य रचनाकी स्फुरना हुई थी। इस प्रकारके समर्पण-नैवेद्य और साथ ही सहायताके निमित्त प्रार्थना, जो धार्मिक भावनाका वाह्य स्वरूप था उसने काव्यका स्वरूप धारण किया। इससे स्पष्टतया मालूम होता है कि हमारे धार्मिक काव्योंने पूर्वोक्त प्रकारसे अपनी जड़ जमाई थी।

हमारे इण्डोजर्मन धर्मने प्राचीन भारतमें अपना कैसा विकाश किया, धीरे धीरे, इसमें किस प्रकारके परिवर्तन होते गये और पीछेके युगमें ऐसे साधारण धर्मसे संतोष न मिलनेके कारण उसमें से जुदे ही प्रकारके भिन्न भिन्न स्वरूप किस तरह विकासको प्राप्त हुए और परिणाममें महत्वरूपमें बौद्धधर्म किस प्रकार प्रगट हुआ अब हमें क्रमसे इस बातपर विचार करना चाहिये।